वार्षिक रु. ५० मूल्य रु. ८.००

वर्ष ४५ अंक ५ मई २००७

विवेक-ज्योति

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
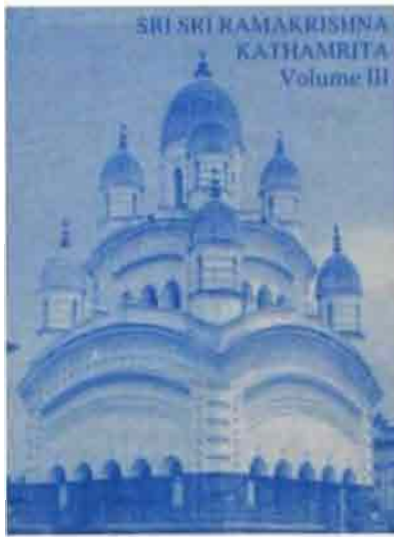
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** Vol. I to V Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Vol. I to III Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
- M., the Apostle & the Evangelist Vol. I to X Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
- A Short Life of M. Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** Vol. I to XVI Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मई २००७

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४५
अंक ५

वार्षिक ५०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

प्रिंट आर्डर - २३,२५०

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(२७ वीं तालिका)

१०८०. श्री अशोक साहा, दल्ली राजहरा, जि. दुर्ग (छ.ग.)
१०८१. स्वामी विद्यानन्द अखण्ड आश्रम, साजापुर (छ.ग.)
१०८२. श्री विमलेश शुक्ला, कोतरा रोड, रायगढ़ (छ.ग.)
१०८३. श्री महासिंह राय कोच, गुरु हनुमान अखाड़ा, दिल्ली
१०८४. श्रीमती रंजना प्रसाद, दुर्गापुर, बर्दवान (प.बं.)
१०८५. सुश्री रचना गुप्ता, गीतांजलि नगर, रायपुर (छ.ग.)
१०८६. श्री गणेश चन्द्र गुप्ता, ऋषिनगर एक्स, उज्जैन (म.प्र.)
१०८७. श्री के.टी. कुंगवानी, जरीपटका, नागपुर (महा.)
१०८८. आत्मानन्द वाचनालय, देवरी, रायपुर (छ.ग.)
१०८९. आत्मानन्द वाचनालय, परसतराई, रायपुर (छ.ग.)
१०९०. नायब सुबेदार आर.बी. ठाकुर, द्वारा ५६ ए.पी.ओ.
१०९१. श्रीमती भारती ठाकुर, खारघर, नई-मुम्बई (महा.)
१०९२. श्री रामेशभाई मोदी, पण्डरी, रायपुर (छ.ग.)
१०९३. श्री एच.एस.चन्देल, न्यू शान्तिनगर, रायपुर (छ.ग.)
१०९४. श्री रूपिन्दर खेरा, देवेन्द्र नगर, रायपुर (छ.ग.)
१०९५. श्री उदितसिंह ठाकुर, चौबे कॉलोनी, रायपुर(छ.ग.)
१०९६. श्रीमती शेफाली पण्डित, कोलकाता (प.बंगाल)
१०९७. श्री राजेश महावर, धमतरी (छ.ग.)
१०९८. श्री अर्जुन आनन्दराव पाटील, कोल्हापुर (महा.)
१०९९. श्री रमेश उपाध्याय, शंकर नगर, रायपुर (छ.ग.)
११००. श्री देवजी पटेल, फाफाडीह, रायपुर (छ.ग.)
११०१. श्री मधुसूदन जोशी, देवघर, राजसमन्द (राज.)
११०२. डॉ. आर.पी. परगनिया, कालेज वार्ड, रायपुर
११०३. श्रीमती सन्तोष कटकवार, आफीसर्स कॉलोनी,उज्जैन
११०४. स्वामी विवेकानन्द इंस्टीट्यूट, पटियाला (पंजाब)
११०५. डॉ. हरिकृष्ण अग्रवाल, अकलतरा, चांपा (छ.ग.)
११०६. श्री दिनेश जायसवाल, दीपिका, कोरबा (छ.ग.)
११०७. श्री वसन्तराव भ. सालके, अहमदनगर (महा.)
११०८. श्री सत्यनारायण गुरे, गणेश नगर, गोन्दिया (महा.)
११०९. श्री विकास मित्रा, बड़ौदा (गुजरात)
१११०. श्री गणेशराम भगत, छ.ग. शासन, रायपुर (छ.ग.)
११११. श्री पार्थसारथी चक्रवर्ती, दमदम, कोलकाता
१११२. श्रीमती हरदीप सुरी, योजना विहार, दिल्ली
१११३. श्री सतीन्द्र कुमार शर्मा, सब्जी वैली, सोलन (हि.प्र.)
१११४. स्वामी विश्रान्तेश्वर जी, बुलन्द शहर (उ.प्र.)
१११५. डॉ. प्रमोद के. पालीवाल, रोहतक (हरियाणा)
१११६. श्रीरामकृष्ण चरणपादुका प्रतिष्ठान, वाराणसी (उ.प्र.)
१११७. श्री जगदीश चन्द्र सोनी, भीलवाड़ा (राज.)
१११८. डॉ. सारंग वसन्तराव दाबके, नागपुर (महा.)
१११९. डॉ. आर.डी. तिवारी, बिलासपुर (छ.ग.)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये **'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय'** को लिखें।

वैराग्य-शतकम्

रम्याश्चन्द्र-मरीचयस्तृणवती रम्या वनान्त-स्थली
रम्यं साधु-समागमागत-सुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोपाहित-वाष्पबिन्दु-तरलं रम्यं प्रियाया मुखं
सर्वं रम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः ।।७९।।

अन्वय – चन्द्र-मरीचयः रम्याः, तृणवती वन-अन्त-स्थली रम्याः, साधु-समागम-आगत-सुखं रम्यंम्, काव्येषु कथाः रम्याः, कोप-उपाहित-वाष्प-बिन्दु-तरलं प्रियाया मुखं रम्यम्, सर्वं रम्यम् किन्तु चित्ते अनित्यताम् उपगते किंचित् पुनः न ।

अर्थ – चन्द्रमा की किरणें मनोहारी हैं, हरे-भरे घासों से परिपूर्ण वनप्रान्त रमणीय हैं, साधु-समागम से उत्पन्न होनेवाला सुख तथा काव्य-ग्रन्थों की कथाएँ रम्य हैं; प्रेमकोप से प्रिया के मुखमण्डल पर उभर आनेवाली पसीने की बूँदें भी मधुर हैं। परन्तु चित्त में इन वस्तुओं की अनित्यता का बोध उदित हो जाने के बाद, फिर इनमें से कुछ भी रम्य प्रतीत नहीं होता।

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्रव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राण-समासमागम-सुखं नैवाधिकप्रीतये ।
किन्तु भ्रान्त-पतङ्ग-पक्ष-पवन-व्यालोल-दीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः ।।८०।।

अन्वय – हर्म्य-तलं किं वसतये रम्यं न? गेय-आदिकं श्रव्यं न? वा प्राण-समा-समागम-सुखम् अधिक-प्रीतये इव न किं ? किं तु सकलं भ्रान्त-पतङ्ग-पक्ष-पवन-व्यालोल-दीप-अङ्कुर-छाया-चञ्चल आकलय्य सन्तः वनान्तं गताः ।

अर्थ – सुन्दर महलों में निवास करने से क्या सुख नहीं मिलता? क्या वाद्यों के साथ गीत सुनने में मधुर नहीं लगते? क्या अपनी प्राणसम प्रियाओं के साहचर्य का सुख मन को आकृष्ट करनेवाला नहीं है? तथापि विवेकवान लोग इन सब वस्तुओं को (अग्नि के रूप से) मुग्ध पतंग के पंखों से उत्पन्न वायु द्वारा कम्पित दीपक की लौ की चंचल छाया के समान समझकर वन में चले गये हैं।

– भर्तृहरि

भलाई का मार्ग

– १ –

अपना भला अगर चाहो तो,
भले बनो और भला करो ।
भले-बुरे दो मार्ग जगत् में, सत्पथ पर ही चला करो ।।

दोष किसी के कभी न देखो,
सबमें गुण की खोज करो,
निज दोषों के लिये ईश से, क्षमा-प्रार्थना रोज करो ।।

तुमसे पीड़ा हो न किसी को,
हाथ बढ़ाओ सेवा का;
रहो सदा सन्तोषपूर्वक, लोभ करो मत मेवा का ।।

कटु वाणी बोलो न कभी भी,
सबमें देखो ईश्वर को;
निश्चय ही 'विदेह' पाओगे, आत्म-रूप परमेश्वर को ।।

– २ –

सब दे दो, प्रतिकार न माँगो ।
सबकी दुख-पीड़ा को ले लो,
कभी किसी से प्यार न माँगो ।।

सभी भिखारी हैं दुनिया में, लिये कटोरे दर-दर फिरते,
कितने ही प्राणी दिखते हैं, प्रियजन के हाथों से मरते;
सपने में भी, तुम ईश्वर से
झूठा यह संसार न माँगो ।। (सब दे दो...)

लेने को संसार खड़ा है, देनेवाले प्राणी कम हैं,
सेवा में सर्वस्व लुटा दो, अगर हृदय में बल – दम-खम हैं;
पर बदले में कभी किसी से
मान और सत्कार न माँगो ।। (सब दे दो...)

अपनी आँख खोलकर देखो, वही प्रेममय सबमें बैठा;
ओतप्रोत है जीव-जगत् में, व्याप्त हो रहा कण-कण पैठा;
तुम 'विदेह' उसको बलि जाओ
मुक्ति और उद्धार न माँगो ।। (सब दे दो...)

– *विदेह*

सुशासन या स्वशासन

स्वामी विवेकानन्द

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत है उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

प्रश्न – प्राचीन भारत में कई प्रजारक्षक राजा थे। उनके सुशासन और स्वायत्त-शासन के बीच कौन-सा बेहतर है?

उत्तर – प्रजा को राज्य-कार्य में मतामत प्रकट करने का अधिकार न हिन्दू राजाओं के समय में था और न बौद्ध शासकों के समय में। यद्यपि महाराज युधिष्ठर वारणावत में वैश्यों तथा शूद्रों के घर गये थे, अयोध्या की प्रजा ने श्री रामचन्द्र को युवराज बनाने के लिये प्रार्थना की थी। सीता के वनवास तक के समय छिप-छिपकर सलाहें भी की थीं, तथापि प्रत्यक्ष रूप से, किसी स्वीकृत राज्य-नियम के अनुसार, प्रजा किसी विषय में मुँह नहीं खोल सकती थी। वह अपने सामर्थ्य को अप्रत्यक्ष और अव्यवस्थित रूप से प्रकट किया करती थी। उस समय उसे उस शक्ति के अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं था। इसी से उस शक्ति को संगठित करने का उसमें न उद्योग था और न इच्छा ही। जिस कौशल से छोटी-छोटी शक्तियाँ आपस में मिलकर प्रचण्ड बल संग्रह करती हैं, उनका भी पूरा अभाव था।

क्या यह नियमों के अभाव के कारण था? नहीं। नियम और विधियाँ सभी थीं। कर-संग्रह, सैन्य-प्रबन्ध विचार-सम्पादन, दण्ड-पुरस्कार आदि सब विषयों के लिये सैकड़ों नियम थे, पर सबकी जड़ में वही ऋषि-वाक्य, दैव शक्ति अथवा ईश्वर की प्रेरणा थी। न उन नियमों में जरा भी हेरफेर हो सकता था, और न प्रजा के लिये ही सम्भव था कि वह ऐसी शिक्षा प्राप्त करती, जिससे आपस में मिलकर लोक-हित के काम कर सकती, अथवा राज-कर के रूप में लिये हुये अपने धन पर अपना स्वत्व रखने की बुद्धि उसमें उत्पन्न होती, या यही कि उसके आय-व्यय के नियमन करने का अधिकार प्राप्त करने की इच्छा उसमें होती।

फिर ये सब नियम पुस्तकों में थे। और कोरी पुस्तकों के नियमों में तथा उनके कार्यरूप में परिणत होने में आकाश-पाताल का अन्तर होता है। सैकड़ों अग्निवर्ण राजाओं के बाद एक रामचन्द्र का जन्म होता है। जन्म से चण्ड-अशोकत्व दिखानेवाले राजा अनेक होते हैं, पर धर्म-अशोकत्व दिखानेवाले कम होते हैं। औरंगजेब जैसे प्रजाभक्षकों की अपेक्षा अकबर जैसे प्रजारक्षकों की संख्या बहुत कम होती है।
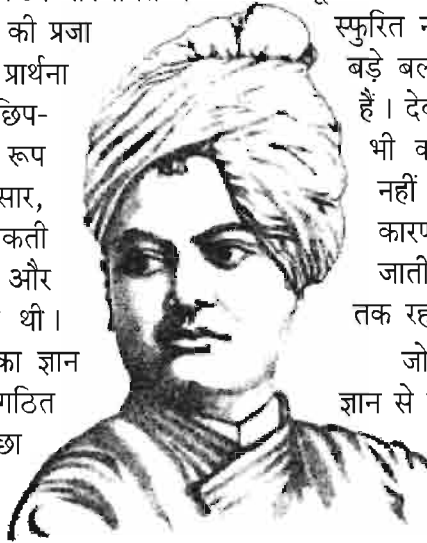
रामचन्द्र, युधिष्ठिर, धर्माशोक या अकबर जैसे राजा हों भी तो क्या? किसी व्यक्ति के मुँह में यदि सदा कोई दूसरा ही अन्न डाला करता हो, तो उसकी स्वयं हाथ उठाकर खाने की शक्ति क्रमशः लुप्त हो जाती है। सभी विषयों में जिसकी रक्षा दूसरों द्वारा होती है, उसकी आत्मरक्षा की शक्ति कभी स्फुरित नहीं होती। सदा बच्चों की भाँति पलने से बड़े बलवान युवक भी वयस्क बच्चे ही बने रहते हैं। देवतुल्य राजा की बड़े यत्न से पाली हुई प्रजा भी कभी स्वायत्त-शासन (Self-Government) नहीं सीखती। सदा राजा का मुँह ताकने के कारण वह धीरे-धीरे दुर्बल तथा निकम्मी हो जाती है। यह पालन और रक्षण ही बहुत दिनों तक रहने से सर्वनाश का कारण होता है।

जो समाज महापुरुषों के अलौकिक, अतीन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न शास्त्रों के अनुसार चलता है, उसका शासन राजा-प्रजा, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख, सब पर कायम रहना विचार से तो सिद्ध होता है, पर यह कार्यरूप में कहाँ तक परिणत हो सका है, या होता है, यह ऊपर ही बताया जा चुका है। राजकार्य में प्रजा की अनुमति लेने की पद्धति – जो आज के पाश्चात्य जगत् का मूल तंत्र है और जिसकी अन्तिम वाणी अमेरिका के घोषणा-पत्र में डंके की चोट पर इन शब्दों में सुनायी गयी थी – 'इस देश में प्रजा का शासन प्रजा द्वारा और प्रजा के हित के लिये होगा' – भारत में नहीं थी, यह बात भी नहीं है। यूनानी यात्रियों ने इस देश में अनेक छोटे-छोटे गणतंत्र राज्य देखे थे। बौद्ध ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं इस बात का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्राम-पंचायतों में गणतांत्रिक शासन-पद्धति का बीज अवश्य था और अब भी अनेक स्थानों में दीख पड़ता है, पर वह बीज जहाँ बोया गया, वहाँ अंकुरित नहीं हुआ। यह भाव गाँव की पंचायत को छोड़कर पूरे समाज तक बढ़ ही नहीं सका।

धर्म-समाज के संन्यासियों और बौद्ध भिक्षुओं के मठों में इस स्वायत्त शासन-पद्धति का विशेष रूप से विकास हुआ था। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। नागा संन्यासियों के सम्प्रदाय में हर व्यक्ति के अधिकार को, पंचों की संप्रभुता और प्रतिष्ठा को; और उक्त समुदाय में सहयोग-शक्ति के कार्यों को देखकर आज भी चकित होना पड़ता है।[८८]

प्रश्न – भारत में वैश्य शासन स्वयं ही स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ, या इसे ऊपर से थोपा गया?

उत्तर – इस देश का विशाल धन और हरी-भरी खेती विदेशियों के मन में काफी काल से अधिकार की लालसा उत्पन्न करती आ रही है। भारतवासी विजातियों द्वारा बारम्बार पददलित हुये हैं। तो फिर हम भारत पर इंग्लैंड के अधिकार को एक अपूर्व घटना क्यों मानते हैं?

धर्म, मंत्र और शास्त्र के बल से बलवान, शापरूपी अस्त्र से सज्जित तथा सांसारिक स्पृहाशून्य तपस्वियों के भ्रू-भंग के सामने प्रतापी राजाओं का काँपना भारतवासी चिर काल से देखते आये हैं। फिर सेना और शस्त्रों से सजे हुये वीर राजाओं की अदम्य वीरता तथा एकाधिकार के सामने प्रजा का – सिंह के सामने बकरियों की भाँति – सिर झुकाये खड़ा रहना भी उन्होंने अवश्य देखा था। पर धनवान होकर भी जो वैश्य, राजाओं की कौन कहे, राजकुटुम्बियों तक के सामने सदा भयभीत हो हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उन्हीं में से कुछ लोगों के साथ मिलकर व्यापार करने की इच्छा से नदियाँ और समुद्र पार कर यहाँ आना तथा अपनी बुद्धि एवं धन-बल से धीरे-धीरे चिर प्रतिष्ठित हिन्दू-मुसलमान राजाओं को अपने हाथ की कठपुतलियाँ बना लेना, उसी धन के बल से अपने देश के राज-कुटुम्बियों तक से अपना दासत्व स्वीकार करा कर उनकी शूरता और विद्या-बल को धन उपार्जन करने का अपना साधन बना लेना, और जिस देश के महाकवि की दिव्य लेखनी द्वारा चित्रित गर्वित लॉर्ड एक साधारण व्यक्ति से कहता है कि 'दूर हो नीच ! तू एक सरदार के पवित्र शरीर को छूने का साहस करता है !' – उसी देश के उन्हीं प्रतापी सरदारों के वंशजों का थोड़े ही समय में ईस्ट इंडिया कम्पनी नाम के वणिक-दल के आज्ञाकारी दास बनकर भारत में आने को परम गौरव समझना भारतवासियों ने कभी नहीं देखा था।

इसलिये भारत पर इंग्लैंड की विजय – जैसा हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसा मसीह या बाइबिल की विजय नहीं है, और न पठान-मुगल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसा मसीह, बाइबिल, राजप्रासाद अनेक प्रकार से सजी-सजायी बड़ी-बड़ी सेनाओं का सगर्व कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि – इन सबके पीछे असली इंग्लैंड विद्यमान है। उस इंग्लैंड की ध्वजायें कारखानों की चिमनियाँ हैं, उसकी सेना व्यापारी जहाज हैं, उसकी लड़ाई का मैदान संसार का बाजार है और उसकी रानी स्वयं स्वर्णांगी लक्ष्मी है। इसीलिये ऊपर कहा है कि भारत पर इग्लैंड का अधिकार एक बड़ी ही अपूर्व घटना है।[८९]

प्रश्न – शुद्र लोग बहुमत में थे, तो भी शुद्र-शक्ति का उदय पहले क्यों नहीं हो सका?

उत्तर – भारत के दरिद्रों, पतितों और पापियों का कोई साथी नहीं, कोई सहायक नहीं – वे कितनी ही चेष्टा क्यों न करें, उनकी उन्नति का कोई उपाय नहीं। वे दिन-पर-दिन डूबते जा रहे हैं। क्रूर समाज उन पर जो लगातार चोटें कर रहा है, उसका अनुभव तो वे खूब कर रहे हैं, पर वे जानते नहीं कि ये चोटें कहाँ से आ रही हैं। वे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं। इसका फल है गुलामी।[९०]

युगों से पिसकर शूद्र मात्र या तो कुत्तों की तरह बड़ों के चरण चाटनेवाले या हिंसक पशुओं की तरह निर्दय हो गये हैं। फिर सदा से उनकी अभिलाषाएँ निष्फल होती आ रही हैं, इसलिये दृढ़ता और अध्यवसाय उनमें बिल्कुल नहीं हैं।

पाश्चात्य जगत् में विद्या-प्रचार होने पर भी वहाँ शूद्रों के उत्थान में एक बड़ी अड़चन रह गयी है। इसका कारण यह है कि वहाँ लोग गुणगत जाति मानते हैं। ऐसी गुणानुसार वर्ण-व्यवस्था इस देश में भी प्राचीन काल में प्रचलित थी, जिसके कारण शूद्रजाति की उन्नति कभी हो ही नहीं सकती थी। एक तो शूद्रों को विद्या प्राप्त करने तथा धन संग्रह करने की सुविधा बहुत कम थी। दूसरे, यदि शूद्रकुल में कभी एक-दो असाधारण लोग पैदा भी होते, तो उच्च वर्ण तुरन्त उन्हें उपाधियाँ देकर अपनी मण्डली में खींच लेता था। उनकी विद्या का प्रभाव और धन का हिस्सा दूसरी जातियों के काम आता था। उनके सजातीय उनकी विद्या, बुद्धि और धन से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते थे। इतना ही नहीं, वरन् कुलीनों के निकम्मे लोग कूड़ा-कर्कट की तरह निकाल कर शूद्र-कुल में मिला दिये जाते थे।[९१]

अन्य देशों के शूद्र-कुल की नींद कुछ टूटी-सी है, पर उनमें विद्या नहीं है। उसके बदले है उनका साधारण जाति-गुण – स्वजाति-द्वेष। उनकी संख्या यदि अधिक ही है, तो क्या? जिस एकता के बल से दस मनुष्य लाख मनुष्यों की शक्ति संग्रह करते हैं, वह एकता अभी शूद्रों से कोसों दूर है। अतः सारी शूद्र जाति प्राकृतिक नियमों के अनुसार पराधीन है। परन्तु फिर भी आशा है।[९२]

अपने निम्न वर्ग के लोगों के प्रति हमारा एकमात्र कर्त्तव्य है – उन्हें शिक्षा देना, उनमें उनकी खोई हुई जातीय विशिष्टता का विकास करना। हमारे जनसाधारण और देशी राजाओं के सम्मुख यही एक बहुत बड़ा काम पड़ा है। अब तक इस दिशा में कुछ भी नहीं हुआ। पुरोहितों की शक्ति और विदेशी विजेतागण सदियों से उन्हें कुचलते रहे हैं, जिसके फलस्वरूप भारत के गरीब बेचारे भूल गये हैं कि वे भी मनुष्य हैं।[९३]

सन्दर्भ-सूची – ८८. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९) खण्ड ९, पृ. २०२-४; **८९**. वही, खण्ड ९, पृ. २०७-१०; **९०**. वही, खण्ड १, पृ. ४०२; **९१**. वही, खण्ड ९, पृ. २२०-२१; **९२**. वही, खण्ड ९, पृ. २१९; **९३**. वही, खण्ड २, पृ. ३६९

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (१३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जसु तुम्हार मानस बिमल
हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ
राम बसहु हियँ तासु ।। २/१२८

– "हे राम, आपके यश-रूपी निर्मल मानसरोवर में, जिनकी जिह्वा-रूपी हंसिनी आपके गुणों-रूपी मोतियों को चुनती रहती है, आप उसके हृदय में निवास कीजिये।"

प्रभु ने महर्षि वाल्मीकि से कहा कि मैं जनकनन्दिनी सीता और लक्ष्मण के साथ वन में निवास करने हेतु आया हुआ हूँ। कृपया मेरे लिए ऐसे स्थान की ओर संकेत करें, जहाँ मैं एक पर्णशाला बनाकर उसमें निवास करूँ।

महर्षि ने वेदान्त-तत्त्व के सन्दर्भ से जुड़ा हुआ उत्तर दिया परन्तु अन्त में वे बोले कि वस्तुत: भक्तों का हृदय ही आपके रहने के लिए उपयुक्त है। प्रश्न उठा कि भक्त के लक्षण क्या है? तब महर्षि ने चौदह स्थानों का निरूपण किया। भक्तों के अनेक भाव होते हैं। उनमें भिन्नता होती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति किसी एक भाव के माध्यम से भी प्रभु को अपने हृदय में बसा सकता है। उनकी उपस्थिति का अनुभव कर सकता है। अभी आपके सामने जो दोहा पढ़ा गया और जिसकी चर्चा चल रही है, उसमें महर्षि कहते हैं कि आपका यश ही मानो निर्मल मानसरोवर है और जिन भक्तों ने अपनी जिह्वा को हंसिनी बना लिया है और निरन्तर आपके गुणों की मोतियाँ ही चुनते रहते हैं, उनके हृदय में आप निवास कीजिए।

प्रभु के जो विलक्षण, अद्‌भुत, अनिर्वचनीय गुण हैं, वे स्वयं में परिपूर्ण हैं। संसार में भी गुणवान लोगों के गुणों के सन्दर्भ में आप देखते हैं कि एक व्यक्ति यदि बलवान है, तो उसमें हम सुकुमारता की कल्पना नहीं कर सकते। सुकुमार व्यक्ति बलवान नहीं होगा और बलवान व्यक्ति सुकुमार नहीं होगा। एक व्यक्ति अगर हिंसक होगा, तो वह दयालु नहीं होगा और एक व्यक्ति यदि दयालु होगा, तो उसमें हिंसावृत्ति नहीं दिखाई देगी। तो ये गुण परस्पर-विरोधी हैं और व्यक्ति यदि एक गुण को पाने की चेष्टा करता है, तो उसे दूसरे गुणों का परित्याग करना पड़ता है। कभी-कभी समाचार-पत्रों में कुस्ती की विभिन्न विधाओं से सम्बन्धित चित्र आते हैं। जापान की एक विधा है, जिसमें उनके पहलवानों को सूमो-पहलवान कहा जाता है। उनका जो चित्र आता है, उनमें वे बड़े बेढंगे दिखते हैं – वे शरीर तथा पेट को विशाल बनाने के लिये प्रयत्न करते हैं। और उस कुस्ती में विजयी होने पर उन्हें बड़ा पुरस्कार और सम्मान मिलता है। यह भी पढ़ने को मिला कि उनकी आयु भी उतनी लम्बी नहीं होती, क्योंकि शरीर सन्तुलित नहीं होता। उसमें कुस्ती-कला की प्रधानता नहीं है, शरीर की विशालता और उस विशालता के उपयोग की प्रधानता है। तो वे बड़े बेढंगे दिखते हैं, जिसने उसी के लिए प्रयत्न किया, वे इसी को गुण के रूप में देखते हैं।

ईश्वर के गुण की विलक्षणता यह है कि परस्पर-विरोधी प्रतीत होनेवाले सारे गुण उनमें एक साथ निवास करते हैं। मानस में सर्वत्र यही संकेत मिलता है। श्रीराम की बाललीला में बड़ी मधुरता है, सुकुमारता है। उसका वर्णन समाप्त कर लेने के बाद गोस्वामीजी लिखते हैं कि प्रभु का यह बाल-चरित्र बड़ा मधुर है, परन्तु उसके तत्काल बाद महर्षि विश्वामित्र का आगमन होता है और वे महाराज दशरथ के पास श्रीराम और लक्ष्मण की याचना करने के लिए आये हैं। प्रारम्भ में जब महाराज को यह पता नहीं था कि ये महात्मा क्यों पधारे हैं, तब तो वे बड़े उत्साह में थे। इतने बड़े महापुरुष का आगमन हुआ है, वे जो भी माँगेंगे, वह मैं तत्काल दूँगा। विलम्ब नहीं करूँगा। कहा भी उन्होंने यही –

केहि कारन आगमन तुम्हारा ।
कहहु सो करत न लावऊँ बारा ।। १/२०७/८

परन्तु महर्षि जानते थे कि जब मैं अपनी माँग रखूँगा, तो यह उत्साह स्थिर नहीं रहेगा और हुआ भी यही। उन्होंने कहा – असुरगण हमें सता रहे हैं, हमारे यज्ञों को नष्ट कर रहे हैं, और मैं आपसे याचना करने के लिए आया हूँ –

असुर समूह सतावहिं मोही ।
मैं जाचन आयउँ नृप तोही ।। १/२०७/९

राजा दशरथ यही तो सोच सकते थे कि वे कहेंगे – आप सेना लेकर चलें और युद्ध करके असुरों का संहार करके यज्ञ की रक्षा करें। पर महर्षि विश्वामित्र ने जो बात कही, वह बड़ी विचित्र थी। वे बोले – राम को उनके भाई के सहित मुझे दे दीजिए। और विश्वासपूर्वक कहा – इन दोनों भाइयों के द्वारा जब निशाचरों का वध होगा, तब मैं सनाथ हो जाऊँगा।

अनुज समेत देहु रघुनाथा ।
निसिचर बध मैं होब सनाथा ।। १/२०७/१०

सुनते ही महाराज की दशा बड़ी सोचनीय हो गई। वे घबरा उठे, शरीर का रंग उड़ गया और पसीना छूटने लगा –

सुनि राजा अति अप्रिय बानी ।
हृदय कम्प मुख दुति कुमुलानी ।। १/२०८/१

उनके मुख से निकला – ब्राह्मण तो बड़े विचार-परायण होते हैं, पर मैं कैसे कहूँ, कम से कम आपकी माँग में विचार नहीं दिखाई दे रहा है। महाराज, अपने आप जरा सोचिए। और उन्होंने इसी विरोधाभास की ओर संकेत किया कि एक ओर तो आप कहते हैं कि असुरों का समूह मुझे सता रहा है। तो उसके लिये आप मुझसे सेना माँगे, मुझे चलने को कहें, तो यह समझ में आता है; पर जब आपने यह माँग की कि छोटे भाई के साथ राम को दीजिए, तो क्या आपने मेरे दोनों पुत्रों देखा है? और उन्होंने यही कहा –

चौथेंपन पायउँ सुत चारी ।
बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ।।
मागहु भूमि धेनु धन कोसा ।
सर्बस देउँ आजु सहरोसा ।।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं ।
सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं ।
राम देत नहिं बनई गोसाईं ।। १/२०८/२-५

और उन्होंने विश्वामित्रजी से कहा – जरा यह तो सोचिये कि वे निशाचर कितने कठोर और भयानक होंगे, जो आपके जैसे महापुरुष के यज्ञ को नष्ट कर देते हैं और इनकी छोटी आयु पर ध्यान दीजिए। इनकी सुकुमारता को, कोमलता को देखिए। आप यह कल्पना कैसे कर पाये कि मेरे ये दोनों सुकुमार पुत्र घोर निशाचरों का वध कर सकते हैं –

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा ।
कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा ।। १/२०८/६

दशरथजी के तर्क में कोई दोष नहीं था। कोमलता और कठोरता का संघर्ष कैसे होगा, युद्ध कैसे होगा। युद्ध होगा, तो उसमें कोमलता ही परास्त होगी और कोठरता की विजय होगी। ऐसी कठोरता का प्रतिकार करने के लिये तो शूरता-वीरता एवं पराक्रम की आवश्यकता होती है, न कि कोमलता की। महाराज दशरथ का संशय उपयुक्त ही तो लगता है, पर महर्षि विश्वामित्र उस रहस्य को जानते थे और उसे प्रकट करना उनका उद्देश्य भी था। वे श्रीराम को संसार के सामने एक बलवान योद्धा के रूप में नहीं प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्हें ज्ञात है कि राम साक्षात् ईश्वर हैं और ईश्वर होते हुए भी महाराज दशरथ की कामना को पूर्ण करने के लिए पुत्र के रूप में आए। अपनी बाल-लीलाओं का उन्होंने दिव्य आनन्द दिया। लेकिन वे दो दृष्टियों से अपनी बात रखना चाहते थे – परमार्थ की दृष्टि से और व्यवहार की दृष्टि से। परमार्थ की दृष्टि से तो वे यह बताना चाहते थे कि जिसे तुम इतना सुकुमार मानते हो, वह ठीक तो है, पर यह जितना सुकुमार है, उतना ही बड़ा योद्धा है, उतना ही बलवान भी है। उसमें दोनों गुणों का एकत्र निवास है, क्योंकि ईश्वर के लिए कहा गया है – **अखिल विरुद्ध धर्माश्रय** – जिसमें सारे विरोधी धर्म, सारे विरोधी गुण एक साथ निवास करते हैं, वे ही ईश्वर हैं। दशरथजी की भावभूमि वात्सल्य की है, वे श्रीराम को ईश्वर के रूप में देखते ही नहीं। ईश्वर की विलक्षणता और उसमें जो परस्पर विरोधाभासी गुण हैं, उसे वे जानते ही नहीं। इसलिए उनका संशय स्वाभाविक है। पर गुरु वशिष्ठ ने अनेक प्रकार से समझाकर उनके संशय को मिटाया –

तब बशिष्ठ बहुबिधि सुमुझावा । १/२०८/८
नृप संदेह नास कहँ पावा ।। १/२०८/८

बहुविधि का अभिप्राय यह है कि उन्होंने अनेक तर्कों द्वारा समझाने की चेष्टा की। और एक तर्क तो यही था कि क्या तुम जानते हो कि ये महर्षि विश्वामित्र कौन हैं? जो नये स्वर्ग का निर्माण कर सकते हैं, जो अपनी तपस्या और पुरुषार्थ से ब्रह्मर्षि का पद प्राप्त कर सकते हैं, विश्व में उनके लिए क्या कर पाना असम्भव है? और वे केवल इतने बड़े तपस्वी और पुरुषार्थी ही नहीं, सर्वज्ञ मुनि भी हैं। तो तुमने जो यह कहा कि आपने बिना विचारे यह बात कह दी, तो क्या तुम्हारा ऐसा कहना उचित है। तुम अपने को विचारक मान बैठे और ब्रह्मर्षि विश्वामित्र को यह कहते हो कि 'ब्राह्मण देवता, आपने विचारपूर्वक नहीं कहा', यह तो तुम्हारी बड़ी भूल है। इतना बड़ा महापुरुष जब अपने आप के यज्ञ की रक्षा के लिए किसी को माँगने आया है, तो सोच-समझकर विचारपूर्वक ही आया होगा। और याद दिलाते हुए कहा – राजन्, जब तुम पुत्र के अभाव में व्याकुल होकर मेरे पास आये थे, तब मैंने तुमसे जो कुछ कहा था, क्या उन बातों को भूल गये? गुरु वशिष्ठ ने याद दिलाया – तुमने कहा था कि सब कुछ होते हुए भी पुत्र नहीं है; मेरे जीवन में बड़ा दु:ख है। तब मैंने कहा था – तुम एक पुत्र पाने को बेचैन हो, पर धैर्य धारण करो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे। – हाँ, महाराज। – मेरा वह वचन सत्य हुआ या नहीं? – महाराज, प्रत्यक्ष ही है। चारों पुत्र उसके प्रमाण हैं। – उसके बाद भी मैंने कुछ कहा था। – क्या? – याद करो। उस समय मैंने कहा था – ये तीनों लोकों में विख्यात होंगे और भक्तों का भय दूर करेंगे –

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी ।
त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी ।। १/१८९/३

इन्हें घर में ही बन्द रखने से ये भला कैसे त्रिभुवन-विदित होंगे? बाहर जायेंगे, तभी तो त्रिभुवन-विदित होंगे। और यदि

ये विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा करेंगे, तब भगत-भयहारी सिद्ध होंगे। आधी भविष्यवाणी तुमने सत्य मान ली और आधी को भूल गये। यह तुम्हारी कमी है। तुम ममता के कारण भूल गये। वह सत्य एक अर्थ में पूरा हो गया और दूसरे अर्थ में अब पूरा होने जा रहा है – त्रिभुवनविदित और भक्तभयहारी। समझाने की और भी एक विधि थी। दूसरी विधि यह थी – जब तुम्हारे पुत्र नहीं थे, तब ये पुत्र तुम्हें कैसे मिले? बोले – महाराज, आपने शृंगीऋषि से यज्ञ कराने के लिए कहा और उनके आचार्यत्व में यज्ञ से ये पुत्र मिले। वे बोले – जरा सोचो, एक मुनि द्वारा यज्ञ करने पर तुम्हें चार पुत्र मिले और आज एक मुनि के यज्ञ में बाधा पड़ रही है, पर यज्ञ से मिले चार पुत्रों में से तुम दो को यज्ञरक्षा के लिए भेजने में संकोच कर रहे हो। यह कैसी कृपणता है? चारों माँगते तो भी दे देना चाहिए था कि महाराज, ये यज्ञ से ही तो मिले हैं, ले जाइये। लेकिन तुम तो दो को देने में भी हिचकिचा रहे हो।

समझाने की एक विधि यह भी थी कि ये बड़े वात्सल्य-भाव वाले हैं, सरलता से नहीं समझ सकेंगे। उन्होंने दृष्टान्त दिया – यदि कोई किसी कृपण के पास जाकर दान माँगे, तो कृपण नहीं देगा; पर उससे ब्याज पर उधार माँगे, तो बड़ी प्रसन्नता से दे देगा कि रुपया तो ब्याज सहित लौट आयेगा। तो वशिष्ठजी ने दशरथजी से कहा – इतने बड़े महात्मा माँगने आए हैं, तो दे दो, पता नहीं कितना ब्याज मिलेगा? बाद में देखोगे कि तुम घाटे में नहीं रहे, बल्कि तुम्हें सब तरह से बड़ा लाभ होगा – ज्ञान की दृष्टि से, भक्ति की दृष्टि से और व्यावहारिक दृष्टि से। इससे दशरथजी का सन्देह दूर हो गया। तब उन्होंने श्रीराम और श्रीलक्ष्मण को बुलाया, हृदय से लगा लिया और उन्हें अनेक प्रकार से शिक्षा दी –

अति आदर दोउ तनय बुलाए।
हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए।। १/२०८/९

– तुम महर्षि विश्वामित्र के साथ उनके यज्ञ की रक्षा करने जा रहे हो। सजग भाव से गुरुदेव की सेवा करना। यह देखना तुम्हारा कर्तव्य है कि गुरुदेव कभी किसी भी प्रकार से रुष्ट न हों। मानो वात्सल्य के कारण राम को समझाने लगे। उसके बाद श्रीराम का हाथ महर्षि के हाथ में पकड़ाकर वे बोले – महाराज, ये मेरे पुत्र मेरे प्राणों जैसे हैं। आज मैं आपको अपने पुत्र नहीं, मानो अपने प्राण ही सौंप रहा हूँ –

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।
तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ।। १/२०८/१०

इस प्रकार दशरथजी बड़ी कठिनाई से उन्हें विदा करते हैं। गोस्वामीजी ने नई बात लिखी। पिता की आज्ञा पाने के बाद प्रभु तुरन्त कौशल्या अम्बा के महल में गये, उनके चरणों में प्रणाम किया और आज्ञा लेकर चल पड़े –

जननी भवन गये प्रभु चले नाइ पद सीस। १/२०८ क

दोनों में अन्तर है। पिछली कथाओं से जोड़िए। महाराज दशरथ में भाव है, पर विवेक और विचार को वे महत्त्व नहीं देते। और कौशल्याजी के चरित्र में? वे राम का विराट् रूप देख चुकी हैं, राम की महिमा से परिचित हैं, अतः उन्हें देर नहीं लगी। – महर्षि विश्वामित्र आए हैं, तुम्हें ले जाना चाहते हैं, तो अवश्य जाओ। वे एक वाक्य में बात समाप्त कर देती हैं। उसके बाद जब श्रीराम की यात्रा प्रारम्भ होती है, उसका एक दोहे में चित्रण करते हुए गोस्वामीजी ने श्रीराम की इसी अखिल विरुद्ध धर्माश्रयता का संकेत दिया है –

पुरुषसिंह 'दोउ बीर' हरषि चले, मुनि भय हरन।

भगवान राम के लिए पहला शब्द था – पुरुषसिंह – जो पुरुषों में सिंह के समान हैं। श्रीराम और लक्ष्मण पुरुषसिंह हैं और बड़े प्रसन्न मन से महर्षि विश्वामित्र के साथ उनका भय दूर करने चल पड़े। सिंह शब्द का अर्थ आप जानते हैं, वह एक पशु है, परन्तु संस्कृत में निरुक्ति शास्त्र के अनुसार व्युत्पत्ति की जो पद्धति है, उसमें हम देखते हैं कि यह सिंह शब्द कैसे बना – वह जो हिंस है, हिंस को ही सिंह का रूप दिया गया। अर्थात् जो क्रूर है, जिसमें हिंसा की वृत्ति है, जो प्रहार करने में सक्षम है, वही मानो सिंह है। सिंह क्रूर होता है, वह प्रहार करने में, मार डालने में, खा डालने में संकोच नहीं करता। इस प्रकार इस दोहे में पहला शब्द है कि श्रीराम पुरुषसिंह हैं और फिर है – दोउ वीर – वह भी ठीक है। पर इस दोहे की दूसरी पंक्ति में क्या है? –

कृपासिंधु मतिधीर अखिल बिस्व कारन करन।।
(१/२०८ ख)

'कृपासिंधु'। एक ओर सिंह, जो इतना हिंसक और क्रूर कि एक ही प्रहार में प्राण ले लेता है। पर वे ही श्रीराम कृपा के समुद्र भी हैं। मानो हिंसा और कृपा दोनों ही उनमें एक साथ निवास करते हैं। और 'मतिधीर' – योद्धा में शौर्य होता है, धैर्य नहीं होता। योद्धा लड़ने और संहार करने के लिए उतावला होता है। और नीति में – विदुर-नीति में भी ऐसा ही है। विदुरजी कहते हैं – तीन कामों में जल्दबाजी करनी चाहिए – भोजन, शयन तथा युद्ध –

अचिरं कुरु राजेन्द्र भोजने शयने रणे।

भोजन करने में शीघ्रता तो स्वास्थ्य के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है, पर योद्धा यदि सोचे कि स्वास्थ्य की दृष्टि से इतनी देर में भोजन करेंगे, तो उसकी स्वस्थता का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा। और शयन में शीघ्रता का क्या अभिप्राय है? रात्रि-जागरण से शक्ति तथा क्षमता में ह्रास होता है, अतः व्यक्ति यथाशीघ्र शयन करे और यथाशीघ्र जाग जाय। तीसरा शब्द है – 'रण में शीघ्रता'। युद्ध के समय व्यक्ति में यदि आक्रमण करने का उत्साह, आवेश तथा शीघ्रता नहीं है, यदि वह विलम्ब करता है, तो विजय नहीं पा सकता।

इस सन्दर्भ में यदि हम विचार करें तो श्रीराम का रावण पर विजय ईश्वर की दृष्टि से कोई अद्‌भुत बात नहीं है। परन्तु इसे केवल राजनीति तथा रणनीति की दृष्टि से देखें, तो रावण राजनीति और रणनीति दोनों ही दृष्टियों से श्रीराम की बराबरी नहीं कर सका। जब रावण ने यह सुना कि राम सेना लेकर समुद्र के किनारे आ गये हैं, तो रावण में युद्ध के लिये पहले जैसा उत्साह नहीं था। पहले उसने लंका के सिंहासन पर बैठते ही आदेश दिया था – सारे देवताओं को परास्त करो। उन्हें लाकर मेरे चरणों में नत होने के लिए बाध्य करो। और वह केवल सेना को भेजकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, बल्कि स्वयं भी गदा लेकर लड़ने को चल पड़ा –

आपुनु चलेउ गदा कर लीन्ही ।। १/१८२/४

रावण पहले इतना उत्साही था! परन्तु अब यदि वह रणनीति में सजग होता, तो सोचता कि राम यदि सेना लेकर समुद्र-तट पर आ गये हैं, तो हम सेना लेकर उस पार जाकर वहीं लड़कर उन्हें हरा दें। ऐसा करने पर रावण की रणनीति में चतुराई तथा उत्साह का परिचय मिलता। यदि युद्ध होना ही है, तो लंका की भूमि पर नहीं, भारत की भूमि पर हो। इस पार नहीं, उस पार हो। मानो रावण के जीवन से उसका चिन्तन, उसकी कुशलता, उसकी शीघ्रता मिट चुकी थी। इसीलिए जब किसी ने कहा कि श्रीराम की सेना समुद्रतट पर आ गई है, तो वह बोला – "आ गई तो क्या? बीच में इतना विशाल समुद्र है, बन्दर क्या समुद्र को पार कर सकते हैं? क्या मनुष्य के लिए इतनी बड़ी सेना लेकर समुद्र को पार करना सम्भव है?" उसने कल्पना से मान लिया था कि कोई कैसे समुद्र को पार करेगा, कोई कैसे लंका तक आयेगा? इस प्रकार रावण मानो स्वयं को भुलावा दे रहा है। और जब उसे समाचार मिला कि समुद्र पर पुल बन गया, तो गोस्वामीजी ने उसकी घबराहट का वर्णन किया है। अपने दसों मुखों से समुद्र के दस नाम कहते हुए वह बोला – क्या सचमुच उस राजकुमार ने समुद्र को बाँध लिया है –

सुनत श्रवन बारिधि बंधाना।
दसमुख बोलि उठा अकुलाना ।। ६/५/१०
बाँध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस।
सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस ।। ६/५

इस प्रकार उस युद्ध में श्रीराम के समक्ष रावण की रण-कला भी पिछड़ती जा रही है। यहाँ तक कि जब श्रीराम समुद्र पार करके आ गये, तो भी लंका की ओर से आक्रमण नहीं हुआ। रावण अब भी निश्चिन्त है – सेना आ गई है तो क्या हुआ; लंका के इस प्राचीर को भला कौन तोड़ सकता है, कौन पार कर सकता है? आक्रमण होता है और प्राचीर ढह जाती हैं। लंका पर आक्रमण होने का अर्थ है – रावण जीवन के हर क्षेत्र में श्रीराम के कौशल के समक्ष पराजित है। भगवान श्रीराम के उस शौर्य की यदि आप कल्पना करें। प्रभु अयोध्या से भी सेना मँगवा सकते हैं, पर नहीं मँगवाया। उन्होंने सोचा कि रावण को हराने के लिए अयोध्या से सेना बुलाने की क्या जरूरत! उत्तर भारत से सेना आकर हराये, ऐसा क्यों! बड़ी अनोखी बात है, भगवान ने बन्दर-भालुओं को सैनिक बनाया। वे बन्दर-भालू, जिनके विषय में पूछा गया कि वे कौन सा शस्त्र चलाना जानते थे? तो कहा गया – पर्वत खण्ड, वृक्ष या नाखून – ये ही उनके हथियार हैं –

गिरि तरु नख आयुध सब बीरा ।। १/१८८/४

नाखून से नोंच लें, दाँत से काट लें, पत्थर फेंककर मार दें – ऐसे लोगों की सेना लेकर उनमें कितना शौर्य, कितना विश्वास, कैसा दृढ़ निश्चय है! भगवान उस सेना को लेकर जाते हैं। समुद्र पर जो पुल असम्भव माना जाता था, उसे सम्भव बनाकर दिखाते हैं और योजना बनाकर स्वयं लंका पर आक्रमण करते हैं। श्रीराम मंत्रिमण्डल से परामर्श करते हैं – लंका के चार द्वार हैं। उन पर कैसे युद्ध लड़ा जाय? उन्होंने अलग-अलग सेनापति नियुक्त किया; हनुमान, अंगद आदि सबको कार्य बॉट दिया और बोले – लंका पर आक्रमण करो। भगवान राम के आक्रमण में जो त्वरित वेग है, यह उनके शौर्य तथा चिन्तन में उत्साह का परिचायक है। सिंह वस्तुत: शौर्य, वीरता और उत्साह का प्रतीक है। सिंह हाथी को क्यों परास्त कर देता है? हाथी तो उससे बहुत बड़े शरीर वाला है और शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो शक्ति भी हाथी में सिंह से अधिक है, मगर सिंह की जो तीव्र गति है, उसमें जो उत्साह है, आक्रमण करने की क्षमता है, उसके सामने इतना विशाल हाथी भी धराशायी हो जाता है। अत: रावण यदि गज के समान राम के सिंहवत् शौर्य के सामने परास्त हो गया, तो यह श्रीराम की रणनीति की ही विजय है। यह उसका व्यावहारिक पक्ष है। व्यावहारिक पक्ष भी दिखाना रामायण की विशेषता है। पर श्रीराम में जितना शौर्य है, उसके साथ उनमें उतना ही धैर्य भी है। जो शौर्य सम्पन्न होता है, वह उतावला होता है और जो धैर्यवाले होते हैं, वे बस सोचते ही रह जाते हैं, कुछ करते धरते नहीं है।

पर उसी दोहे में गोस्वामीजी ने लिखा है – **मतिधीर**। वे सिंह के समान तेजस्वी हैं, शक्तिशाली हैं, परन्तु उनकी बुद्धि बड़ी धीरतायुक्त है। यदि शौर्य और धैर्य का एकत्र समावेश देखना हो, तो वह श्रीराम के चरित्र में ही है। इसीलिए प्रभु ने समुद्रतट पर मंत्रियों से जब प्रश्न किया कि समुद्र को कैसे बाँधा जाय? विभीषण बोले – प्रभो, समुद्र तो आपका कुल-गुरु है, उसके किनारे बैठकर प्रार्थना कीजिए, तो वह अवश्य सेना को पार कर देगा। इस पर प्रभु ने बड़े प्रसन्न मन से कहा – मित्र, तुमने बड़ा सुन्दर उपाय बताया। यदि दैव सहायक हुआ, तो सफलता अवश्य मिलेगी –

सखा कही तुम्ह नीकि उपाई ।
करिअ दैव जौं होइ सहाई ।। ५/५१/१

परन्तु जब प्रभु के तेजस्वी भाई लक्ष्मण ने उनके मुँह से दैव शब्द सुना, तो झुँझला उठे, आवेश में आ गये। बोले – प्रभो, क्या यह दैव शब्द आपके मुँह से शोभा देता है? जो आलसी होते हैं, जो निकम्मे होते हैं, जिनमें पुरुषार्थ नहीं है, वे ही कहते हैं कि भाई, केवल देव का ही भरोसा है –

कादर मन कहुँ एक अधारा ।
दैव-दैव आलसी पुकारा ।। ५/५१/४

यदि आलसी या निकम्मा व्यक्ति यह शब्द कहे, तो ठीक है, क्योंकि वह बेचारा दैव को छोड़कर और कुछ कर नहीं सकता। परन्तु आप तो शक्तिशाली हैं। आपके पास धनुष-बाण है, आप इस समय शान्ति और उपवास की बात मत कीजिए। क्रोध कीजिए और समुद्र को सुखा दीजिए –

नाथ दैव कर कवन भरोसा ।
सोषिअ सिन्धु करिअ मन रोसा ।।
सुनत बिहसि बोले रघुबीरा ।
ऐसेहिं करब धरहु मन धीरा ।। ५/५१/३, ५

प्रभु ने सुना और हँसते हुए बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया – लक्ष्मण, तुम जैसा दैव को सदा चुनौती देते रहनेवाले शूर-वीर भाई के रहते मुझे क्या चिन्ता है ! पर प्रभु ने एक मीठी बात कही – तुम मुझसे क्रोध और शौर्य दिखाने के लिए कह रहे हो, तो मेरी एक बात तुम भी मान लो। – क्या? – यदि मैं शौर्य धारण करूँ, तो तुम भी थोड़ा धैर्य धारण करो। मुझे अगर क्रोध करने की प्रेरणा देते हो, तो मैं तुम्हें धैर्य रखने को प्रेरित करता हूँ। शौर्य के साथ धैर्य भी होना चाहिए। श्रीराम के चरित्र में ये दोनों पक्ष हैं। इतने धैर्यशाली हैं कि अनशन करने बैठे हुए हैं। रावण को समाचार मिलता है, तो हँसता है – धन्य हो, आज तक ऐसा योद्धा नहीं देखा। रावण बोला – "मैंने जान-बूझकर ही विभीषण को जाने दिया था। यदि चाहता तो मैं उसे मरवा देता, या कारागार में डाल देता। पर सोचा कि इसकी सलाह मानने से मेरी लंका जली। उस बन्दर को मरवा दिया होता, तो कुछ न होता। तो इस विभीषण की उल्टी बुद्धि है और इस बुद्धि से वह जो सलाह उस तपस्वी को देगा, तो उसकी भी वही दशा होगी। और जब रावण को सूचना मिली कि आपके भाई की सलाह पर राम अनशन कर रहे हैं, तो सुनकर वह खूब हँसा। – वाह रे बुद्धि, बन्दरों की सेना और डर के मारे भाग खड़ा होनेवाला डरपोक विभीषण ! बच्चों को तो मचलते देखा था, पर स्वयं को बड़ा तेजस्वी माननेवाला राजकुमार भी समुद्र के सामने बच्चों जैसा मचल रहा है कि मुझे रास्ता दे दो –

सुनत बचन बिहसा दससीसा ।
जौं असि मति सहाय कृत कीसा ।।
सहज भीरु कर बचन दृढ़ाई ।
सागर सन ठानी मचलाई ।।
मूढ़ मृषा का करसि बड़ाई ।
रिपु बल बुद्धि थाह मैं पाई ।। ५/५६/३, ५-६

और बोला – विभीषण तो सर्वनाश ही करा सकता है। जिसका मंत्री विभीषण होगा, वह क्या कभी विजयी होगा?

सचिव सभीत बिभीषन जाकें ।
बिजय बिभूति कहाँ जग ताकें ।। ५/५६/७

रावण यही सोचकर चकित है कि कोई समुद्र के किनारे बैठकर उपवास करे और उससे मार्ग माँगे, यह कैसी रणनीति है ! पर उसे पता न था कि राम तीन दिन उपवास कर सकते हैं, पर इसके बाद भी समुद्र की ओर से कोई उत्तर न मिलने पर उन्होंने लक्ष्मण की ओर देखा – धनुष-बाण लाओ, मैं अग्निबाण से समुद्र को सुखा डालूँ, क्योंकि दुष्ट के प्रति विनय-भाव और कुटिल व्यक्ति से प्रेम करने का फल ऊसर जमीन में बीज बोने के समान ही व्यर्थ है –

लछिमन बान सरासन आनू ।
सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू ।।
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती ।
... ऊसर बीज बएँ फल जथा ।। ५/५८/१-४

श्रीराम अनशन कर सकते हैं, उपवास कर सकते हैं, पर जब धनुष पर बाण चढ़ाते हैं, तो समुद्र भस्म होने लगता है। वह प्रभु के चरणों में नमन करता है और समुद्र से पार जाने का उपाय बताता है। और जिन विभीषण के बारे में रावण कहता था कि जो उसकी सलाह मानेगा, उसको भला विजय कैसे मिलेगी ! बाद में जब रावण की मृत्यु नहीं हो रही थी, तो भगवान ने विभीषण की ओर देखा – यह कैसे मरेगा? भगवान मानो बताना चाहते थे कि रावण का कितना दुर्भाग्य है कि जिसे उसने मारकर भगा दिया, उसकी सलाह के बिना मैं रावण को मार नहीं सका ! रावण कितना अविवेकी है !

मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा ।
राम बिभीषन तन तब देखा ।। ६/१०२/२

विभीषण उस रहस्य को जानते थे। बोले – इसकी नाभि में अमृत-कुण्ड है, जिसके बल से यह जीवित रहता है –

नाभिकुण्ड पियूष बस याकें ।
नाथ जिअत रावनु बल ताकें ।। ६/१०२/५

❖ (क्रमशः) ❖

परहित सम नहिं धर्म

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

परोपकार मनुष्य का विशेष गुण है, जो अन्य योनियों में नहीं पाया जाता। वैसे कुत्ते एवं अन्य पशु भी अपने मालिक के प्रति बड़े वफादार तो होते हैं और मालिक पर कोई विपत्ति आने पर उसकी रक्षा करने के लिए अपने प्राण भी गँवा देते हैं, पर उनका यह कार्य परोपकार की श्रेणी में नहीं आता। एक बार मैं अपने एक मित्र के यहाँ बैठा हुआ उसके छोटे बच्चे के प्रति स्नेह प्रदर्शित कर रहा था। बीच बीच में विनोद में उसे चपत भी लगा देता। मित्र का पोमेरियन कुत्ता वहीं पास में बैठा हुआ था। वह जब मुझे बच्चे को चपत लगाते देखता, तो मेरी ओर देखते हुए गुर्राने और भूँकने लगता। पहले मैं इसका कारण नहीं समझ पाया। पर मित्र ने बताया कि वह बच्चे का मेरी चपत से बचाव करने के लिए गुर्रा रहा है। तो, क्या कुत्ते की इस क्रिया को परोपकार कहेंगे? नहीं, यह परोपकार नहीं है। कुत्ता चोर से मालिक की रक्षा करता है, पर वह भी परोपकार नहीं है। क्यों? कुत्ता तो मालिक का उपकार ही कर रहा है, फिर वह परोपकार कैसे नहीं है? इसलिए कि कुत्ता यह कार्य अपनी सहज प्रवृत्ति से परिचालित होकर करता है, जान-बूझकर नहीं। पशु अपने मालिक के प्रति जो वफादारी प्रदर्शित करते हैं, उसके पीछे उनकी instincts यानी सहज प्रेरणा कार्य करती है, वे बुद्धि के द्वारा सोचकर या जान-बूझकर ऐसा नहीं करते।

परोपकार वह क्रिया है, जो हम जान-बूझकर, सोच-समझकर दूसरे के उपकार के लिए करते हैं। पशु अपने से सम्बन्धित व्यक्ति के प्रति ही वफादारी प्रदर्शित कर सकता है, पर परोपकार की प्रक्रिया उन व्यक्तियों को भी लपेट लेती है, जिन्हें परोपकार करनेवाला नहीं भी जानता है। परोपकार का तात्पर्य है – दूसरे के कष्ट तथा अभाव दूर करने का प्रयास।

परोपकार मानवीय धर्म है। यदि परोपकार की यह वृत्ति मनुष्य में न हो, तो यह मानना पड़ेगा कि वह पशुत्व से अभी विशेष ऊपर नहीं उठ पाया है। परोपकार मानवता का प्रकट लक्षण है। यदि हम किसी के दुःख को देखकर पसीज जाते हों और उसे हल्का करने में सचेष्ट होते हों, तो यह परोपकार की वृत्ति का ही जागरण है।

गोस्वामी तुलसीदास ने परोपकार को सबसे बड़े धर्म की संज्ञा दी है। वे कहते हैं – **परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई** – अर्थात् परोपकार के समान धर्म नहीं और परपीड़ा के समान अधर्म नहीं। सभी धर्मों के सन्तों एवं महापुरुषों ने परोपकार को धर्म का पर्याय माना है और कहा है कि वह व्यक्ति को ईश्वर की ओर ले जाता है।

स्वामी विवेकानन्द एक कदम आगे बढ़कर कहते हैं कि **परोपकार में अपना ही उपकार है**। यदि परोपकार की क्रिया के पीछे अपने उपकार की दृष्टि रही, तो व्यक्ति कई तरह की प्रतिक्रियाओं को झेलने में अपने को समर्थ बना लेगा। परहित का कार्य करते समय साधारणतः निन्दा और उपेक्षा के बीच से भी गुजरना पड़ता है। इससे मन में प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं और व्यक्ति परोपकार के कार्य से हट जाने की सोचता है। उसे लगता है कि परोपकार एक thankless job है, एक अर्थहीन श्रम है। ऐसे समय स्वामी विवेकानन्द का सूत्र हमें परोपकार से विरत होने से बचाता है। यदि हमें यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि परोपकार की क्रिया के द्वारा वस्तुतः मैं अपना ही उपकार कर रहा हूँ, तो यह विश्वास परोपकार में अहंकार को नहीं पैठने देगा और प्रतिक्रियाओं से हमारी रक्षा करेगा।

श्रीरामकृष्ण की कथाएँ और दृष्टान्त

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान कथाओं तथा दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व समझाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। जनवरी २००४ से जून २००५ तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये पुन: प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

– १८३ –

कट्टरता ठीक नहीं

एक शिव-भक्त शिवजी की तो उपासना करता था, पर विष्णु के प्रति द्वेषभाव रखता था। एक दिन शिवजी ने उसे दर्शन देकर कहा – "देखो, जब तक तुम्हारा विष्णु के प्रति द्वेषभाव दूर नहीं होगा, तब तक मैं तुम पर प्रसन्न नहीं हो सकता।" भक्त ने कुछ कहा नहीं। पर वह वैसे ही एकनिष्ठ भाव से शिवजी की उपासना करता रहा। उसकी निष्ठा के कारण शिवजी को पुन: दर्शन देना पड़ा। अबकी बार वे 'हरिहर'-रूप में प्रकट हुए। उनका आधा शरीर शिव का था और आधा विष्णु का। शिवजी को देख भक्त आनन्दित तो हुआ, पर विष्णु को देखकर उसे दु:ख होने लगा। वह आधा सुखी और आधा दुखी था। इसके बाद वह उनकी पूजा करने लगा। उसने केवल शिव की ही पूजा की, विष्णु की ओर देखा तक नहीं। धूप देते समय उसे आशंका हुई कि कहीं उसकी सुगन्ध विष्णु को भी न मिल जाय, अत: वह विष्णु की नाक दबाकर बैठा रहा। शिव बोले – "देखो, मैंने तुम पर कृपा कर हरिहर-रूप धारण किया, ताकि समझ सको कि शिव और विष्णु अभिन्न हैं; पर तुम अब भी समझ नहीं सके। इस एकांगी भाव के लिए तुम्हें काफी कष्ट भोगना पड़ेगा।" विष्णु के प्रति उसके द्वेषभाव की बात धीरे-धीरे चारों ओर फैल गई और गाँव के बच्चे उसे देखते ही 'हरि-हरि' कहकर ताली बजाते हुए चिढ़ाने लगे। अन्त में हरिनाम से बचने का दूसरा कोई उपाय न देख उसने अपने दोनों कानों में घण्टे लटका लिये। ज्योंही बच्चे 'हरि-हरि' कहकर चिल्लाते, त्योंही वह उन घण्टों को जोर से बजाकर हरिनाम न सुनने की कोशिश करता। इससे उसका नाम ही 'घण्टाकर्ण' पड़ गया। कट्टर और एकांगी होने पर व्यक्ति को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है।

– १८४ –

ज्ञान और अज्ञान के परे जाओ

लक्ष्मण ने कहा – "राम, कितने आश्चर्य की बात है! वशिष्ठदेव इतने बड़े ज्ञानी हैं, तो भी पुत्रों के शोक से विह्वल होकर रो रहे थे!" राम बोले – "भाई, जिसे ज्ञान है, उसे अज्ञान भी है; जिसे एक वस्तु का ज्ञान है, उसे अनेक वस्तुओं का भी ज्ञान है। जिसे उजाले का ज्ञान है; उसे अँधेरे का भी ज्ञान है। परन्तु ब्रह्म, ज्ञान तथा अज्ञान से परे है; पाप और पुण्य, शुचिता और अशुचिता से भी परे है।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "देखो, ज्ञान और अज्ञान के पार हो जाओ, तभी उन्हें समझोगे। बहुत कुछ जानने का नाम है अज्ञान। पाण्डित्य का अहंकार भी अज्ञान ही है। एक ईश्वर ही सर्वभूतों में विराजमान हैं, इस निश्चयात्मिका बुद्धि को ज्ञान कहते हैं। उन्हें विशेष रूप से जानने को विज्ञान कहते हैं। यदि पैर में काँटा चुभ जाय, तो उसे निकालने के लिए एक अन्य काँटे की जरूरत होती है। काँटे को काँटे से निकालने के बाद फिर दोनों काँटे फेंक दिये जाते हैं। पहले अज्ञान-रूपी काँटे को दूर करने के लिए ज्ञानरूपी काँटे को लाना होता है। इसके बाद ज्ञान और अज्ञान दोनों को ही फेंक देना पड़ता है; क्योंकि वे ज्ञान और अज्ञान से परे हैं।"

– १८५ –

पुरोहिती का दोष

तीर्थों के पुजारियों के विषय में श्रीरामकृष्ण चैतन्यदेव के जीवन की एक घटना बताया करते थे।

एक बार चैतन्य महाप्रभु भावसमाधि में पूर्णत: निमग्न होकर समुद्र में गिर पड़े थे। उसी दशा में वे एक मछुए के जाल में फँस गए और जाल खींचने पर बाहर आ गए। चैतन्यदेव के पावन स्पर्श के फलस्वरूप उस मछुए की भी भावावस्था हो गई और वह सब काम-काज छोड़कर हरिनाम लेते हुए पागलों की तरह घूमने लगा। घरवालों की काफी चेष्टा के बावजूद जब उसकी अवस्था में कोई अन्तर नहीं हुआ, तब और कोई उपाय न देख वे लोग चैतन्यदेव के पास आए और उन्हें सारा हाल कह सुनाया। चैतन्यदेव ने कहा – "किसी पुजारी के घर का चावल लाकर इसके मुँह में डालो, तो यह ठीक हो जायेगा।" घरवालो ने वैसा ही किया। उससे मछुए की वह भावावस्था चली गई।

संसार में आसक्त तथा अपवित्र लोगों का संग, साधना तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये ऐसा ही हानिकर है।

– १८६ –

जाकी रही भावना जैसी

एक साधु समाधिमग्न होकर सड़क के किनारे पड़े थे। तभी उधर एक चोर आया। साधु को देखते ही वह मन-ही-मन सोचने लगा – "यह जरूर कोई चोर है, रात भर चोरी करने के बाद अब यहाँ पड़ा सो रहा है। अभी पुलिस आकर इसे पकड़ ले जाएगी। चलूँ, मैं भाग निकलूँ।" फिर एक शराबी आया और साधु को देखकर सोचने लगा – "सारी रात शराब चढ़ाकर अब नाले में पड़े हो ! मैं सब समझता हूँ, बेटा !" अन्त में वहाँ एक साधु आये और उन समाधिमग्न साधु की अवस्था को पहचानकर उनकी सेवा करने लगे।

हम अपनी भावना तथा संस्कार के अनुसार ही हर व्यक्ति का मूल्यांकन करके उसे बुरा या भला देखते हैं।

– १८७ –

बीच-बीच में डुबकी लगाना

"जितना ही आगे बढ़ोगे उतना ही अधिक पाओगे। देखोगे, चन्दन की लकड़ी फिर आगे और भी बहुत कुछ है – चाँदी तथा सोने की खान, हीरे तथा मणि की खान; इसीलिए कहता हूँ – 'आगे बढ़ते जाओ।'

"परन्तु यदि संसारी आदमी अधिक बढ़ जायँ, तो घर-गृहस्थी सब साफ हो जाय। केशव सेन उपासना कर रहा था, बोला – 'हे ईश्वर, ऐसा करो जिससे हम तुम्हारी भक्ति की नदी में डूब जायँ।' उपासना समाप्त होने के बाद मैंने पूछा, 'क्यों जी, तुम भक्ति की नदी में डूब कैसे जाओगे? डूब जाओगे तो जो चिक के भीतर बैठी हुई हैं, उनकी क्या दशा होगी? एक काम करो – कभी डूब जाना और कभी-कभी निकलकर फिर किनारे पर सूखे में आ जाना।' यह बात सुनकर केशव तथा दूसरे लोग हँसने लगे।"

– १८८ –

आदतें सहज ही नहीं छोड़तीं

एक व्यक्ति ने एक कुत्ता पाल रखा था। वह रात-दिन उसी को लेकर मग्न रहता – कभी उसे गोद में बैठाता, तो कभी चूम भी लेता। एक दिन उसके यह मूर्खतापूर्ण आचरण देखकर एक मित्र ने उसे समझाते हुए कहा – "कुत्ते के साथ इतना हेल-मेल ठीक नहीं। आखिरकार वह पशु ही तो है, न जाने कब काट बैठे।" उस आदमी को यह बात जँच गयी। उसने तत्काल कुत्ते को गोद से उतार दिया और मन-ही-मन संकल्प किया कि उसे फिर कभी गोद में न लूँगा।

परन्तु कुत्ता भला इस बात को कैसे समझे ! वह ज्योंही मालिक को देखता, दौड़कर उसकी गोद पर चढ़ने का प्रयास करने लगता। मालिक उसे बारम्बार पीट कर भगाता। अनेक दिनों तक इसी प्रकार पीट-पीटकर कुत्ते को भगाते रहने के बाद कहीं उसकी वह आदत छूटी।

प्रत्येक व्यक्ति की यही हालत है। जिन कामनाओं को हमने इतने दिनों से अपने गले से लगा रखा है, उन्हें हम छोड़ना भी चाहें, तो वे आसानी से नहीं छूटतीं। पर यदि कोई सचमुच ही उनसे पिण्ड छुड़ाना चाहे, तो उन्हें प्यार-दुलार करना छोड़ दे, सावधानीपूर्वक उन्हें बारम्बार दूर हटाता रहे। ऐसा करने पर वे क्रमशः हमारा पीछा छोड़ देंगी।

– १८९ –

उपाधियों से सावधान

उपाधियाँ व्यक्ति से जितनी दूर रहेगी, ईश्वर उसे उतने ही निकट प्रतीत होंगे। ऊँची जगह पर वर्षा का जल एकत्र नहीं होता, नीची जमीन में जमता है; वैसे ही जिस व्यक्ति में अहंकार है, उसके हहय में उनकी दया-रूपी जल नहीं ठहरता। उनके प्रति दीनभाव ही अच्छा है।

एक-एक उपाधि से व्यक्ति का स्वभाव बदल जाता है, अतः खूब सावधान रहना चाहिए। यहाँ तक कि वस्त्र से भी अहंकार होता है। एक रोगी को देखा, उसने शौकीनों की तरह काली किनारी की धोती पहनी और उसके मुख से अपने आप निधुबाबू के प्रेमगीतों की धुन निकल पड़ती है। किसी ने बूट पहना नहीं कि मुँह से फटाफट अंग्रेजी बोली निकलने लगती है ! बूट-जूता चढ़ाते ही दुबला-पतला आदमी भी फूलकर कुप्पा हो जाता है; मुँह से सीटी बजाने लगता है, सीढियाँ चढ़नी हों, तो साहबों की तरह उछल-उछलकर चढ़ता है ! मनुष्य के हाथ में यदि कलम रहे तो उसका गुण ही ऐसा है कि सामने चाहे जैसा भी कागज का टुकड़ा क्यों न पड़ जाए, वह उसी पर कलम घिसने लग जाता है।

यदि कोई छोटा आधार हो तो गेरुआ वस्त्र पहनने से अहंकार होता है। सम्मान प्रदर्शन करने में जरा-सी त्रुटि होने पर उसे क्रोध-अभिमान होता है।
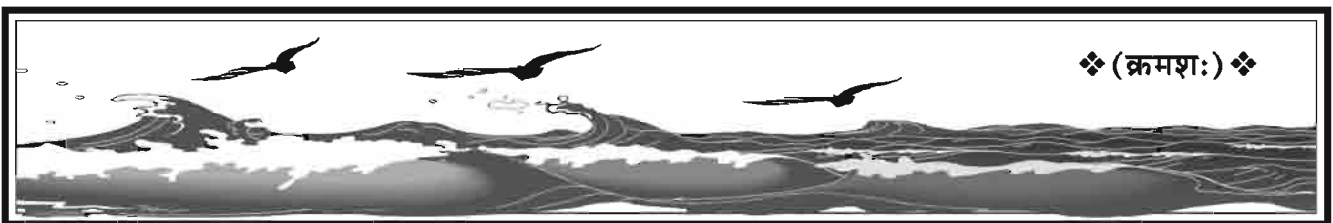
नारदीय भक्ति-सूत्र (११)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

अस्त्येवमेवम् ।।२०।।

अन्वयार्थ – **अस्ति** – हैं, **एवम् एवम्** (भक्ति के) ऐसे रूप। अर्थ – भक्ति के ऐसे रूपों के उदाहरण हैं।

पिछले चार सूत्रों में हमने देखा कि भक्ति के बारे में अनेक महान् आचार्यों के स्वतंत्र विचार हैं। नारद भी भक्ति के बारे में अपना विचार या मत बताते हैं। उनके विचार से, भक्त के सभी आचरण ईश्वरोन्मुख होने चाहिये और यदि किसी पल उसका मन ईश्वर में लीन रहने में विफल रहता है, तो उसे तीव्र कष्ट या पीड़ा होती है।

नारद एक बात और कहकर इन सब पर जोर देते हैं कि भक्ति वस्तुत: ऐसी ही होती है। यह उनका अनुभव है; यह किसी कथन या सिद्धान्त से अधिक है। वे अपने व्यक्तिगत अनुभव से अपने कथन की पुष्टि करते हैं।

यथा व्रज-गोपिकानाम् ।।२१।।

अन्वयार्थ – **यथा** – जैसे, **व्रज** – वृन्दावन, **गोपिकानाम्** – गोपियों के।

अर्थ – जैसा व्रज की गोपियों के जीवन में मिलता है।

भक्त के सभी आचरण ईश्वर-समर्पित होने चाहिये और यदि किसी पल मन उस समर्पण से विचलित हो जाये, तो भक्त को तीव्र कष्ट और पीड़ा होती है। वृन्दावन की गोपियों के जीवन में ऐसा दृष्टान्त मिलता है। गोपियों का सम्पूर्ण जीवन ईश्वर-समर्पित था। अत: यदि वे एक पल भी ईश्वर का चिन्तन नहीं कर पाती थीं, तो ईश्वर से वियोग की भावना के कारण उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी।

तत्रापि न माहात्म्य-ज्ञान-विस्मृत्यपवादः ।।२२।।

अन्वयार्थ – **तत्र-अपि** – वहाँ भी, **माहात्म्य** – महानता, **ज्ञान** – ज्ञान, **विस्मृति** – विस्मरण, **अपवादः** – दोष, **न** – नहीं (**आसीत्** – था)। अर्थ – वहाँ भी प्रेमास्पद की महानता के विस्मरण का दोष नहीं था।

पूर्ववर्ती सूत्र में उद्धृत दृष्टान्त अपूर्व है। वहाँ भक्ति को दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। कोरे सिद्धान्त से सत्य को नहीं समझा जा सकता। जब स्थिति का सटीक चित्रण करनेवाला उचित दृष्टान्त दिया जाता है, तभी व्यक्ति उत्तम रूप से समझ सकता है। अत: गोपियों का दृष्टान्त दिया जा रहा है।

भक्ति से हम क्या अपेक्षा रखें। यही कि इसके द्वारा हमें वृन्दावन की गोपियों जैसा अनुभव हो। भागवत में बताया गया है कि गोपियाँ कैसे श्रीकृष्ण के सिवा कुछ भी नहीं देखती थीं। उन का सारा जीवन उन्हीं में लीन था। वे उन्हीं के लिये ही सभी कार्य करती थीं, उनके लिये उनसे एक पल का वियोग भी मृत्यु से भी अधिक निकृष्ट था।

तथापि, गोपियों की भक्ति में एक आपत्ति हो सकती है कि उसमें प्रेमास्पद का माहात्म्य-ज्ञान नहीं था। वे श्रीकृष्ण से प्रेम करती थी, परन्तु उनकी महानता के बारे में कभी नहीं सोचती थीं। वे श्रीकृष्ण को अपने प्रेमी के रूप में मानती थी, बस इतना ही। इसलिये यह आक्षेप किया जाता है कि गोपियों को भगवान के माहात्म्य का ज्ञान नहीं था।

तद्विहीनं जाराणामिव ।।२३।।

अन्यवयार्थ – **विहीनम्** – बिना, **तत्** – उस (माहात्म्य ज्ञान) के, **जाराणाम् इव** – उपपति की तरह।

अर्थ – (ईश्वर-माहात्म्य के) उस ज्ञान के बिना यह प्रेम उपपति या परपुरुष से प्रेम करने जैसा होगा।

इस सूत्र में नारद कहते हैं कि ऐसा कोई आक्षेप बिल्कुल नहीं टिक सकता। गोपियों की भक्ति पर कोई यह आपत्ति नहीं उठा सकता कि वे अपने इन अनन्य प्रेमास्पद श्रीकृष्ण की महानता से अवगत नहीं थी। नारद इस बात पर जोर देते हैं कि यदि उनमें वह आध्यात्मिक ज्ञान न रहता, तो वह उसी प्रकार का जागतिक प्रेम मात्र होता, जैसा कि कोई नारी अपने उपपति से रखती है। तब वह सच्चे भक्त का उदाहरण नहीं होता, बल्कि उपर्युक्त जार-प्रेम के समान ही होता।

❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❖ (क्रमशः) ❖ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑ ❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(६७) माता की आज्ञा भली

सन्त विनोबा का मूल नाम 'विनायक' था। उनकी माता प्रवचन सुनने रोज मन्दिर जाती थीं। एक दिन उन्होंने बालक विनायक से कहा – "बेटा, गीता मूल रूप से संस्कृत में है और संस्कृत मुझे आती नहीं। यदि तू इसका मराठी पद्यानुवाद लाकर दे, तो मुझे प्रवचन सुनने में आसानी होगी। बालक विनायक ने बाजार से गीता पर पद्य रूप में लिखा एक भाष्य खरीदकर ला दिया। माता ने उसके प्रारम्भिक दो पृष्ठ पढ़े और बोली – "यह मराठी में तो है, परन्तु इसकी भाषा संस्कृत जैसी ही क्लिष्ट है। जा इसे वापस कर आ।"

बाद में एक दिन माँ ने विनायक से कहा – "तू ही इसका मराठी में पद्यानुवाद क्यों नहीं कर देता?" विनायक ने बताया कि मैं तो बहुत छोटा हूँ। मुझे तो संस्कृत भी बिल्कुल समझ में नहीं आती।" माँ बोली – "तेरी बात भी सही है। बड़ा होकर तू अवश्य प्रयास करना।"

माता के निधन के कई वर्षों के बाद विनोबाजी को अपने बचपन का यह प्रसंग स्मरण हो आया। वस्तुत: बालक के भीतर विभिन्न गुणों के बीज निहित होते हैं, जो समय पाकर विकसित-प्रस्फुटित तथा संवर्धित होते हैं। विनोबाजी में भी बचपन से ही काव्य-रचना के बीज निहित थे, जो उक्त प्रसंग याद आने पर रचना के रूप में फूट पड़े। उन्होंने लेखनी उठाई और फिर वह रुकी नहीं, चलती ही रही। 'गीता' का सरल मराठी में पद्यानुवाद पूरा होने पर प्रश्न उठा कि इसका नाम क्या रखा जाये – क्या शीर्षक दिया जाय? उनके मनश्चक्षुओं के सम्मुख अपनी माता की छवि साकार हो उठी और उन्होंने निश्चय किया कि इसे गीता-आई (गीता-माता) कहेंगे। इस तरह उन्होंने ग्रन्थ को 'गीताई' नाम दिया।

(६८) जाने बिनु न होई परतीती

एक बार सूफी सन्त जुन्नेद से किसी ने पूछा – "आप कहते हैं कि ईश्वर इस धरती पर विराजमान हैं, फिर वे हमें दिखाई क्यों नहीं देते? क्या आपके कहने पर ही हम विश्वास कर लें?" जुन्नेद बोले – "जो व्यक्ति ईश्वर को एक वस्तु के समान खोजता है, उसे मैं अज्ञानी मानता हूँ। संसार में जो कुछ दिखाई देता है, वह सब ईश्वर की ही देन है। ईश्वर कोई अलग तत्त्व, व्यक्ति या शक्ति नहीं, बल्कि समग्र सत्ता ईश्वर ही हैं।" यह कहकर उन्होंने पत्थर का एक छोटा-सा टुकड़ा उठाकर उस व्यक्ति के बायें पैर पर फेंका। इससे वहाँ खून बहने लगा। वह व्यक्ति क्रोधित होकर बोला – "यह आपने क्या किया? आप जैसे साधु कहलाने वाले व्यक्ति के लिये गुस्से में आकर पत्थर मारना शोभा नहीं देता। आपने तो मेरे पैर में घाव कर दिया। इससे मुझे बड़ी पीड़ा हो रही है।"

सन्त ने कहा – "आपको पीड़ा हो रही है? मगर मुझे तो वह दिखाई नहीं दे रही है।" वह व्यक्ति बोला – "आपने ठीक कहा, जैसे पीड़ा दिखती नहीं, अनुभव की जाती है, वैसे ही ईश्वर भी इन्द्रियों से दिखाई नहीं देते। उन्हें देखने को संवेदनशीलता की जरूरत होती है, अन्यथा उससे साक्षात्कार नहीं हो सकता। वायु, अति सूक्ष्म जीव आदि संसार के कई पदार्थों को हम देख नहीं पाते। फिर मनुष्य और हर वस्तु का निर्माण, नियंत्रण, पालन तथा संहार ईश्वर के द्वारा ही होता है। कोई-न-कोई तो वस्तुओं का सर्जनहार होगा और वह ईश्वर ही है। इस तरह ईश्वर का होना स्वत:सिद्ध है।"

(६९) सील, सन्तोष, सदा, समदृष्टि

एक दिन ब्रह्मसमाज के प्रसिद्ध आचार्य प्रतापचन्द्र मजूमदार महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के घर गये। प्रतापचन्द्र को जब उनके कक्ष में विभिन्न धर्मों की अनेक पुस्तकें दिखाई दीं, तो वे बोले – "एक सम्प्रदाय के कट्टर अनुयायी होते हुये भी आपके कक्ष में अन्य धर्मों की पुस्तक देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।" देवेन्द्रनाथ बोले – "मजूमदार, तुम्हारा ऐसा सोचना स्वाभाविक है। मैं भी पहले तुम्हारे जैसे ही संकीर्ण विचारों का था। मगर दूसरे ग्रन्थों को पढ़ने के बाद मेरी संकीर्णता चली गयी। जो मनुष्य नीचे चलता रहता है, उसे भूमि कहीं नीची और कहीं ऊँची दिखाई देती है, पर जब वह ऊपर जाता है, तो उसे धरातल एक समान दिखाई पड़ता है। यह बात आध्यात्मिक विचारों के बारे में है। जब तक व्यक्ति संकुचित विचारों का होता है, तब तक उसका ध्यान धर्म व सम्प्रदायों के भेदों में उलझा रहता है। ज्योंही उसके विचारों में परिपक्वता आती है, त्योंही उन विचारों में समता, सदाचार, सच्चरित्रता, सद्भाव, सन्तोष, सामंजस्य आदि के बीज अंकुरित होकर उसमें अन्य धर्मों, सम्प्रदायों एवं पन्थों के गुणों को ग्रहण करने की वृत्ति जाग्रत होती है। अत: हमें अपनी संकीर्ण वृत्ति को त्यागकर दूसरे धर्मों के तत्त्व आत्मसात् करने में जरा भी संकोच नहीं करना चाहिये। ❑❑❑

ईशावास्योपनिषद् (९)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

आइये अब अगले मन्त्र पर विचार करें। पहले मन्त्र में साधना का संकेत है, तत्त्व की बात है। दूसरे मन्त्र में साधना का सार है। तीसरे मन्त्र में यह बताया गया है कि यदि हमने पहले और दूसरे मन्त्रों में बताये गये उपायों के द्वारा जीवन में परिवर्तन लाने का प्रयत्न नहीं किया या साधना नहीं की तो उसका परिणाम क्या होगा।

मान लीजिये मैं बीमार हूँ और मुझे डायरिया हो गया है। जब मैं डॉक्टर के पास जाऊँगा, तो डॉक्टर समझा देते हैं कि यह रोग इस प्रकार हुआ है और इस प्रकार का भोजन और औषधि आपको लेना है। इससे आपको लाभ होगा। आप जो गरम दूध पीते हैं, यदि वही दूध आप डायरिया-रोग के समय पी लेंगे, तो जो शरीर के लिये पोषक है, वही शरीर का नाशक बन जायेगा। जब रोगी इसे समझ जाता है, तब वह सावधान हो जाता है और वह पथ्य-अपथ्य का पालन करने लगता है। इसी प्रकार उपनिषद ने हमें यह बताया है कि जीवन का सत्य क्या है और संसार का सत्य क्या है। इस सत्य की उपलब्धि के लिये साधना क्या है। हमें क्या करना चाहिये। यदि हम वह साधना नहीं करेंगे तो क्या होगा। यही बात ऋषि हमें इस तीसरे मन्त्र में बता रहे हैं –

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।३।।

– अज्ञानी कर्मी, कर्मासक्त होकर कर्म करनेवाले आत्महन्ता जितने भी मनुष्य हैं, वे सभी मरने के बाद अज्ञान, दुःख रूपी अन्धकार से आच्छन्न उन असुर-लोकों में जाकर बार-बार जन्म लेते हैं।

इस मन्त्र का बहुत गहन तात्पर्य है। ऋषि हमें कहते हैं कि हमने जैसा बताया, वैसा जीवन अगर तुम नहीं बिताओगे और भोगवाद में लगे रहोगे, तो उसका परिणाम क्या होगा? तुम आत्मघाती हो जाओगे, आत्महत्यारे हो जाओगे। उसका फल यह होगा कि तुम मरने के बाद असुर-लोकों में चले जाओगे, जो लोक अन्धकार, अज्ञान से परिपूर्ण हैं। तुम वहाँ जाकर बहुत कष्ट पाओगे। ऐसा ऋषि हमें चेतावनी दे रहे हैं। जो असुर नामक लोक है, वह कैसा है? ऋषि कहते हैं – अन्धेन तमसावृताः – वह अज्ञान के अन्धकार से पूर्ण है। यदि मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा कोई अभिशाप है, तो वह है अज्ञान। अज्ञान के समान दूसरा कोई दुःख नहीं है।

जीवन में सबसे बड़ा जो कष्ट है, वह केवल इसलिये है कि हम अज्ञानी हैं। यदि अज्ञान के अंधकार में व्यक्ति डूब जाय और वह व्यक्ति उस अन्धकार को दूर करने का प्रयत्न न करे, तो इसी नर-देह में वह पशुतुल्य जीवन बिताता है तथा मरने के बाद तो वह असुर लोकों में जायेगा ही। पशुओं के जीवन में आध्यात्मिक ज्ञान का कोई प्रकाश नहीं है। पशुओं की जो स्थिति है, कल्पना करके देखिये कि यदि मानव-देह में हमारी पशु-बुद्धि, और पशु-वृत्ति हो जाय, तो इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या हो सकता है? ऐसा वह लोक है। कौन जाता है उसमें? आत्महनो जनाः – जो आत्म-हत्यारे हैं, वे मरने के बाद उसमें जाते हैं।

इस तीसरे मन्त्र में ऋषि ने उन अभागों के दुर्गति का वर्णन किया है, जो इस संसार में मनुष्य की पुण्य पावन देह पाने के पश्चात् भी अपनी इच्छा से, अज्ञानवश अपना सर्वनाश किया करते हैं। ऐसे लोगों के लिये वह असुर-लोक है। अब ये आत्म-हत्यारे कौन हैं? कोई आदमी विष खा के मर गया। रेलगाड़ी के नीचे आकर मर गया। पानी में डूब कर मर गया। आग में जलकर मर गया। सामान्यतः आत्महत्या का यही अर्थ हमारे सामने आता है। इस प्रकार आत्महत्या करने वाला व्यक्ति पाप का भागीदार होता ही है। वह उसका फल भोगता ही है। उसको नरक में जाना पड़ता है। किन्तु सिर्फ यही इसका अर्थ नहीं है। उपनिषद में ऋषियों ने जो आत्महत्या का अर्थ बताया है, वह अलग है। भगवान शंकराचार्य ने इस पर भाष्य लिखा है – "**अविद्या दोषेण विद्यमानस्य आत्मनः तिरस्करणात् आत्महन् इत्युच्यते**" – जीवन में अविद्या, अज्ञान होने के कारण, जो लोग सदा विद्यमान आत्मा, जो शाश्वत है, अमर है, जो सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य है, उसका तिरस्कार कर देते हैं, ऐसे लोग अविद्या और अज्ञानी हैं तथा ये लोग ही आत्मघाती कहे जाते हैं। यह अविद्या या अज्ञान क्या है?

भगवान श्रीरामकृष्ण के शिष्य मास्टर महाशय आज से एक सौ पचास साल पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक थे। वे बहुत अध्ययनशील थे। उन्हें अँग्रेजी और संस्कृत भाषाओं का ज्ञान था। उन्होंने हिन्दू-शास्त्र और पाश्चात्य शास्त्रों का अध्ययन किया था। तब वे ठाकुर के पास आये। ठाकुर ने उनसे पूछा – 'तुम्हारी पत्नी कैसी है?'

मास्टर कहते हैं – 'अच्छी है, किन्तु अज्ञानी है।' ठाकुर एकदम विरक्त हो जाते हैं और कहते हैं, 'और तुम ज्ञानी हो?' श्रीरामकृष्ण देव के ऐसा कहने पर मास्टर को विचित्र-सा लगा। मास्टर महाशय की यही धारणा थी, जो हम सबकी होती है कि जो पढ़ा लिखा नहीं है, वह अज्ञानी है और जो थोड़ा-बहुत स्कूल में जाकर पढ़ा है, वह ज्ञानी है। मास्टर महाशय सोचते थे कि वे तो ज्ञानी हैं, क्योंकि वे शिक्षित हैं। किन्तु श्रीरामकृष्ण ने कहा – "देखो, ईश्वर को जानने का नाम ही ज्ञान है और बाकी सब अज्ञान है।"

तब मास्टर महाशय को लगा कि इतने ग्रन्थ पढ़कर और इतना कुछ जानकर भी मैं अज्ञानी हूँ, क्योंकि ठाकुर कहते हैं, जो ईश्वर को नहीं जानता वह अज्ञानी है।

आचार्य शंकर यही कहते हैं कि जिसने ईश्वर को जानने की इच्छा अर्जन नहीं की है, वही अज्ञानी है। ईश्वर या आत्मा को जानने का नाम ज्ञान और ईश्वर को न जानने का नाम अज्ञान है। ईश्वरीय ज्ञान को उपनिषद में ब्रह्मविद्या कहा गया है। इस ब्रह्मविद्या को जानकर ही मनुष्य आत्मघात से बच सकता है। अब सोचिये आत्मघाती कौन है? आप-हम सब आत्मघाती हैं। कैसे? बहुत सरल शब्दों में समझें, जो वास्तविक हमारा स्वरूप है, जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त चैतन्य स्वरूप है, उसको भूलकर जो लोग इस शरीर को आत्मा समझ लेते हैं, इसको ही सत्य समझ लेते हैं और इसी में दिन-रात डूबे रहते हैं, ऐसे लोग आत्मघाती हैं। ऐसे लोग जो अपने जीवन में ईश्वर-प्राप्ति या आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न नहीं करते। वे आत्महत्यारे हैं। भले ही व्यक्ति की मृत्यु स्वाभाविक हुई हो, किन्तु जीते जी उन्होंने भोग में डूबकर आत्महत्या कर ली है। इसलिये इस मूल्यवान मानव-जन्म में मृत्यु के पूर्व ही यह हम जानने का प्रयत्न करें कि हम कौन हैं, हम क्या हैं? क्या हमारे जीवन का वही प्रयोजन है, जो पशुओं के जीवन का भी है? हम अपनी इच्छा के विरुद्ध पैदा हुये, जी रहे हैं और अपनी इच्छा के विरुद्ध मर जायेंगे, तो क्या हमारा इसमें कोई योगदान नहीं है? यदि इस दृष्टि से विचार करके देखें, तो जो आज हमारी आधुनिक विद्या है, इससे हमारे जीवन-यापन का स्तर तो बढ़ रहा है, किन्तु क्या स्वयं के जीवन का स्तर बढ़ा? विज्ञान के आविष्कार के पूर्व जो पशुता थी, क्या वह पशुता हममें विद्यमान नहीं है? विज्ञान के अनेकों शोधों से जीवन सुखकर हो गया है, किन्तु जीवन में जो पशुता है, क्या विज्ञान ने उसे दूर किया है? अच्छे मनुष्य बनने में क्या विज्ञान ने सहायता की है? क्या उसने हमारी बुद्धि में विवेक जगाया है? हमने आज तक जो कुछ किया है, क्या इसका कोई मूल्य है? क्या इस प्रकार के विचार हमारे मन में आते हैं? हम पायेंगे ऐसा नहीं हुआ है। विज्ञान ने ऐसा नहीं किया है। तब विज्ञान ने हमारे लिये क्या किया है? उसने हमें भोगों में डूबा दिया है। उसने ईश्वर पर अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। इन सब कारणों से हम लोग अज्ञानी हैं, अविद्वान हैं। अविद्या और अज्ञान के द्वारा हमारे बन्धन बढ़ते जाते हैं। अपने स्वरूप को न जानना और न जानने का प्रयत्न करते हुये जीवन-यापन करना आत्महत्या करना है –'ये के च आत्महनो जनाः'। ऐसे लोग ही आत्मघाती हैं।

अपने स्वरूप को जानना या जानने का प्रयत्न करना आत्मज्ञान की ओर बढ़ना है। उपनिषद ने मनुष्य को दो भागों में बाँटा है – आत्मघाती और आत्मज्ञानी। इन दोनों का शरीर के पतन से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी देह में रहकर हमारी जो वृत्ति है, उस वृत्ति के कारण या तो हम आत्मघाती हैं, या आत्मज्ञानी हैं। हमें आत्मघाती नहीं होना है। इसलिये उपनिषद कहते हैं कि जो विद्या तुम्हारे जीवन में आमूल परिवर्तन न करे, जीवन के स्तर को ऊँचा न उठाये, वह विद्या अज्ञान है और वही हमें आत्मघाती बना देता है। विद्या क्या है? यह जीवन को बदलने का रसायन है। जो आमूल परिवर्तन कर दे। 'सा विद्या या विमुक्तये' – जो मुक्ति प्रदान करे, वह विद्या है।

श्रीरामकृष्ण कलकत्ते में जब अपने बड़े भाई के पास रहने के लिये आये, तब १६-१७ वर्ष के थे। उनके बड़े भाई उनको पाठशाला की शिक्षा देना चाहते थे। श्रीरामकृष्ण पूजा-पाठ, स्तोत्र-पाठ बहुत रुचि से करते थे, किन्तु उन्हें दूसरे विषयों में रुचि नहीं थी। एक दिन बड़े भाई ने कहा, अरे गदाई तू पढ़ेगा नहीं, तो तेरा पालन-पोषण कैसे होगा, जीवन कैसे चलेगा? तब श्रीरामकृष्ण ने बड़े भाई से जो बात कही वह अविद्या और विद्या का प्रमाण है। वह बात हमारा मार्गदर्शक है। श्रीरामकृष्ण ने कहा "दादा, मैं ऐसी विद्या नहीं पढ़ना चाहता हूँ, जो हमें केवल रोटी, कपड़ा दे। मैं ऐसी विद्या पढ़ना चाहता हूँ, जो हमें भवसागर से मुक्त कर दे।" यह आदर्श हमारे सामने भगवान श्रीरामकृष्णदेव ने रखा है।

हमें अपने आपसे यह प्रश्न करना चाहिये कि हम जो पढ़े-लिखे हैं या वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब रोटी-कपड़ा कमाने के लिये कर रहे हैं या अपने जीवन में मुक्ति की साधना करने के लिये कर रहे हैं। जो विद्या हमें मुक्ति की ओर प्रेरित नहीं करती है, जो विद्या हमें संसार के दुःखों से निवृत्त करके परमानन्द-प्राप्ति की ओर उन्मुख नहीं करती है, वह विद्या हमारे किसी भी काम की नहीं है, वह अविद्या है। विद्या तो वही है जो मनुष्य को परमानन्द की प्राप्ति करा दे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

आत्माराम की आत्मकथा (३८)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसकी पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

कोचीन और कालडी

वहाँ से ट्रावंकोर (त्रिवेन्द्रम्) राज्य के और भी दो-एक स्थान देखकर कोचीन बन्दरगाह होते हुए आचार्य शंकर के जन्मस्थान कालडी का दर्शन करने गया। कोचीन का बन्दरगाह बड़ा सुन्दर है – समुद्र से भीतर की ओर है, चारों तरफ नारियल के उद्यान, बीच से चौड़ी सड़क समुद्र को गई है। गहरा पानी है, बड़े-बड़े जहाज आ सकते हैं। बन्दरगाह रुके हुए जल (Back-waters) में बना हुआ था। निश्चय ही भविष्य में यह बहुत विकसित होगा।

कालड़ी की धर्मशाला के अध्यक्ष के नाम पत्र था, ताकि भोजन आदि का कष्ट न हो और जितने दिन चाहूँ, खुशी से रह सकूँ। अच्छा कमरा दिया था और अपने घर से इडली-कॉफी आदि मँगा देते। तीन रात रहा। जो स्थल आचार्य शंकर के जन्मस्थान के रूप में चिह्नित है, वहाँ छोटे-छोटे दो मन्दिर हैं और शृंगेरी के शंकराचार्य उनकी व्यवस्था करते हैं। एक संस्कृत की पाठशाला है, परन्तु सभी छात्र मलाबारी और नम्बूदरी ब्राह्मण हैं। कोई भी आचार्य शंकर के सगे-सम्बन्धी नहीं हैं। धर्मशाले के व्यवस्थापक नम्बूदरी ब्राह्मण हैं। उनसे उन स्थानों का दर्शन करा देने का अनुरोध करने पर, वे दरवाजे तक गये और उंगली से संकेत करके कहा – ''जाइये।'' मैंने कहा – ''आप भी चलिए।'' – ''जी नहीं। नहीं जा सकता।'' – ''क्यों?'' – ''बाद में बताऊँगा।''

बाद में उन्होंने धीरे से बताया कि वे नम्बूदरी ब्राह्मण हैं और वहाँ जाने पर जाति से निकाल दिये जायेंगे। शंकर के नातेदारों ने उन्हें जाति से निकाल दिया था। एक तो वे विधवा-पुत्र थे अर्थात् पिता की मृत्यु के बाद जन्मे थे, अत: सन्देह करते थे और उन्हें दूर रखा था; और दूसरे संन्यासी होकर भी उन्होंने अपने हाथों से माँ का संस्कार किया था। मैंने कहा – ''क्षमा कीजिये, जो इतने महान् जगत्पूज्य हैं, तथापि उनके विषय में जिनकी ऐसी मनोवृत्ति है, उनकी गति नीचे की ओर अर्थात् अवनति ही होगी। जन्म नहीं, अपितु कर्म ही मनुष्य को बड़ा बनाता है। पिछले जन्मों के भले कर्मों के फलस्वरूप व्यक्ति राजकुल में जन्म लेने से राजा हो सकता है, पर पूज्य या वरेण्य नहीं हो सकता। यह देखकर आश्चर्य होता है कि आप शिक्षित होते हुए भी इन अन्धविश्वासों के अधीन हैं।'' (प्रशंसा से थोड़ा काम हुआ, क्योंकि वे मन-ही-मन नाराज थे)। बोले – ''देखिये, समाज के साथ चलना पड़ता है। मन-ही-मन मैं उनका बड़ा सम्मान करता हूँ, उनका लिखा हुआ भाष्य भी मैंने छिपकर पढ़ा है, पर यह बात यदि मेरे कुटुम्ब के लोग जान लें, तो मेरी जान नहीं बचेगी, प्रायश्चित करना पड़ेगा।'' मैंने कहा – ''क्या कहते हैं?'' – ''जी हाँ, तत्काल बलपूर्वक प्रायश्चित करायेंगे।''

मैं बोला – ''जो देश अपने सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति का अपमान करता है, वह म्लेच्छ देश के तुल्य है; जो वर्ण अपने श्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा नहीं जानता, वह अध:पतित है; और उसकी किसी काल में उन्नति की आशा नहीं है। मेरी यही धारणा है। चेष्टा कीजिये कि आपका समाज इस मनोवृति को त्यागे। सत्य एवं धर्म ही मनुष्य को पूज्य तथा श्रेष्ठ बनाते हैं। आप तो धार्मिक हैं – समाज को सत्य कहने से डरेंगे क्यों! और यदि आपकी चेष्टा से समाज की यह दुर्बुद्धि दूर हो, तो आप समाज का सचमुच ही महान् कल्याण करेंगे।''

कालड़ी से ओट्टपालेम गया। वहाँ एक नये आश्रम की स्थापना हो रही है। निरंजन तथा श्री पिल्लै – दोनों के आग्रह पर जाने को राजी हुआ था। अर्थाभाव इसका मूल कारण था और फिर यह भी नहीं मालूम था कि पूज्य तुलसी महाराज क्या सोचेंगे। पर जाने से हानि की अपेक्षा लाभ ही अधिक हुआ – बहुत कुछ जाना, बहुत कुछ सुना। प्रथम दर्शन के समय कटु शब्दों की वर्षा के बाद, जब मैंने कठोर उत्तर दिया – ''उत्तम व्यक्ति से ऐसी आशा नहीं की थी।'' और जब उन्हें ज्ञात हुआ कि विशेष अनुरोध पर ही आया हूँ, तब तो मधुवर्षा होने लगी। कई तरह की बातें हुई, अधिकतर मठ पर टीका-टिप्पणी। ऊटकमण्ड से पूज्य सुधीर महाराज को पत्र लिखकर इस विषय में सूचित किया था। ...

स्थापना का समारोह खूब धूमधाम से हो रहा था। कुँआ खोदते समय उसमें जो एक पुरानी नारायण की मूर्ति मिली थी, वह थोड़ी टूटी हुई थी, पर उसे मूल मन्दिर में वेदी के पीछे और सामने श्रीरामकृष्ण का चित्र रखा गया था। जिस दिन दरिद्र-नारायण सेवा हुई, वह एक देखने की चीज थी। अनेक नम्बूदरी ब्राह्मण देखने आये थे, पर वे बहुत दूर खड़े देख रहे थे। बर्मा से लौटा और जाति से बहिस्कृत एक

नम्बूदरी ब्राह्मण-परिवार भी आया हुआ था। उनकी स्त्रियाँ सबके सामने खड़ी थीं और नम्बूदरी लोग स्वयं परोस रहे हैं। इसे देख दर्शकगण विस्मयपूर्वक सिर पर हाथ रखकर 'अई ओ !' – करने लगे। अलेप्पी के श्री पिल्लई तक चकित होकर मुझसे कहने लगे – "स्वामीजी, जीवन में ऐसा कभी नहीं देखा था – इसे गुरु महाराज का चमत्कार ही कहना होगा।" ये दरिद्र लोग सभी अस्पृश्य – अछूत जाति के थे।

वैसे मैंने कहा – "इनकी कोई जाति नहीं है, विदेश जाने से इनकी जाति चली गयी है, तभी इन्होंने ऐसा साहस किया है। सच्चा साहस तो उस नम्बूदरी ब्राह्मण का है, जिसने थोड़ी जमीन दान की है, नारायण की मूर्ति रखी है और चुपचाप काम कर रहे हैं। वे जानते हैं कि सारा समाज उनके विरुद्ध होगा, पर वे अपनी श्रद्धा पर दृढ़ होकर काम कर रहे हैं – किसी ओर ध्यान नहीं, निडर हैं। इसी को मर्दानगी कहते हैं। पिल्लई ने इस बात की प्रशंसा की। पिल्लई तुलसी महाराज के कृपाप्राप्त भक्त थे और उनसे इतना डरते थे कि अपने कमरे में टँगे उनके बड़े चित्र की ओर देखते तक न थे – उन्हें लगता था कि अभी डाटेंगे। एक दिन निरंजन और पिल्लई मेरे साथ नदी के किनारे घूमने गये। उस दिन वहाँ उन दोनों के साथ कई तरह की बातें हुईं। ...

एक दिन नायर भक्त के घर से निमंत्रण पाकर उसके गाँव में भोजन करने गये। वे उस गाँव के धनिकों में एक थे। रास्ते में देखा – एक वृद्धा इमली के बीज तोड़-तोड़कर दो छोटे बच्चों को खिला रही थी और – 'रामा-रामा' – कह रही थी। पूछने पर पता चला कि उसकी पुत्री, जो इन दो बच्चों की माँ भी है, वही एकमात्र कमानेवाली है और उसके बहुत दिनों से बीमार होने के कारण, काम पर न जा पाने से भूखमरी की नौबत आ गयी है। और कुछ पूछने की इच्छा नहीं हुई। अहा ! भूख मिटाने के लिये ये लोग इमली के बीज खा रहे ! क्या ये धनी लोग इनकी थोड़ी सहायता करके इनका दुख घटा नहीं सकते। मैंने उन्हें थोड़ा भोजन देने को कहा, तो राजी हो गये और बोले – बाद में भेज देंगे।

कमरे में बैठा था। भोजन परोसने की तैयारी चल रही थी। पास ही एक करुण स्वर सुनाई दी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि एक व्यक्ति कुछ खाने को माँग रहा है, कह रहा है – दो दिन से अन्न नहीं मिला है। मेरे दिल को ठेस पहुँची, बोला – "पहले इसको और उस वृद्धा को कुछ भेज दीजिये, उसके बाद हमें देना।" गृहस्वामी आश्चर्यचकित हो गये और लम्बी जीभ निकालकर बोले – "क्या कहते हैं? सब अपवित्र (जूठा) हो जायेगा।" मैंने पूछा – "श्री ठाकुर का भोग लगा दिया है?" – "हाँ।" – "तो फिर जूठा नहीं होगा, क्योंकि प्रसाद कभी उच्छिष्ट नहीं होता। जाइये, शीघ्र उनके भोजन की व्यवस्था कीजिये। जब तक उन्हें नहीं दिया जायेगा, तब तक मैं कुछ भी नहीं खा सकूँगा। मन में बार-बार यही आ रहा है – उन दो भूखे बच्चों और वृद्धा का 'रामा-रामा' शब्द। उसका अर्थ मैं अब समझा हूँ।"

गृहस्वामी ने आशंका देखी और साथ के मलाबारी संन्यासी मेरा दृष्टिकोण देखकर समझ गये कि मेरा निश्चय अडिग है, इसलिए चुप रहे। घर की स्त्रियों ने शोर-गुल मचाना शुरू कर दिया। मैंने कहा – "ठीक है, आप सभी लोग खायेंगे और मैं भी खाऊँगा, लेकिन उन लोगों को देने के बाद ही ! यदि संध्या हो जाय, तो भी कोई हानि नहीं है।" आखिरकार उन लोगों ने आपस में काफी विचार-विमर्श के बाद निश्चित किया कि पहले एक जन थाली सजाकर मुझे दे जायेगा और दूसरा उनके लिए ले जायेगा। दोनों कार्य एक साथ ही हो जायेंगे। 'धर्मरक्षा' के लिए मुझसे इसी व्यवस्था को मान लेने का अनुरोध किया गया। मैंने कहा – "ठीक है, लेकिन भोजन करना तो मैं तभी शुरू करूँगा, जब वह रोना बन्द होगा और आकर खबर देगा कि उन्हें दे दिया गया है।"

आखिरकार वे लोग राजी हुए, पर स्त्रियों को राजी कराने में विशेष युक्ति से काम लेना पड़ा था। इस विषय पर बाद में झगड़ा भी हुआ था। एक दल मेरे पक्ष में था और दूसरा विपक्ष में, परन्तु इसके बारे में मुझे किसी पक्ष ने सूचित नहीं किया। बाद में जब झगड़ा बढ़ा, तो मेरे एक समर्थक ने मुझे बताया। अन्त में मैंने उनकी सम्मिलित बैठक में कहा – "जो लोग श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के भाव से ठीक-ठीक अनुप्राणित हैं और स्वयं को उनका अनुयायी कहकर परिचय देते हैं, वे कभी ऐसे आचरण को अनुचित नहीं कह सकते। साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि स्वयं श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द ने भी ऐसा ही आचरण किया था। जो सज्जन मुझे निमंत्रण देकर ले आये हैं और स्वयं को उनका भक्त कहकर परिचय देते हैं, उन्हें यह स्वीकार करना चाहिए कि यह जानते तथा देखते हुए भी इनके दु:ख मिटाने की जरा भी चेष्टा न करना अत्यन्त दोषपूर्ण हुआ है। यदि वे समाज के कुछ सड़े-गले आचारों के गुलाम रहते हैं और स्वयं को श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के अनुयायी कहते हैं, तो यह कभी शोभा नहीं देगा। जिसमें ऐसी मूर्खताओं के विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति नहीं है, मानसिक बल नहीं है, उसके द्वारा कोई भला कार्य होने की आशा नहीं है। और सत्य तो यह है कि वे इस संघ के सम्पर्क रहने के अनुपयुक्त हैं, क्योंकि उनके द्वारा संघ की प्रगति की आशा तो है नहीं, बल्कि हानि होने की ही अधिक आशंका है।" झगड़ा मिटा और सबने मान लिया कि मेरा वह आचरण ठीक ही था।

ओट्टपालेम से ऊटी गया। जिस दिन जाने की बात थी, देखा गया कि सुविधा की रेलगाड़ी केवल एक ही थी और वह रात के तीन बजे थी। महापुरुषजी के एक दक्षिणी शिष्य

नीलकण्ठ अय्यर बोले कि वे गाड़ी में सवार करा देंगे, मगर रात को जाकर उन्हीं के मकान में रहना होगा, क्योंकि वह स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर था। आश्रम से स्टेशन करीब ढाई मील दूर था। मैं राजी हुआ। शाम को विदा लेने गया, तो पूज्य तुलसी महाराज ने बड़ा मधुर व्यवहार किया और बोले कि मैं दो महीने बैंगलोर रहकर अपना स्वास्थ्य सुधारूँ और वे स्वयं वहाँ सूचित कर देंगे, कोई असुविधा नहीं होगी। निरंजन की भी मेरे साथ ऊटी, फिर बेलूड़ तथा मायावती तक जाने की इच्छा थी। परन्तु उनके लिये उस समय जाना सम्भव नहीं हो सका। ... मुझे विदाई देते समय उसकी आँखें भर आईं, बोले – "फिर आयेंगे न?" – "अवश्य, ठाकुर यदि ले आये तो।"

इसके बाद विदा लेकर नीलकण्ठ के साथ चला गया। एक अन्य सज्जन भी हमारे साथ चले, वे अय्यर ब्राह्मण और कोई एक छोटे स्कूल के हेड-मास्टर थे। नीलकण्ठ नोबल स्कूल के सहायक मास्टर थे। हम जब रवाना हुए तब संध्या हो गई थी। करीब आधा मील रास्ता बचाने के लिए हम रेल की पटरी के सहारे चल रहे थे। नीलकण्ठ रास्ता दिखाते चल रहे थे। Embankment (भराव) बहुत ऊँचा था। दोनों ओर कँटीले पेड़ तथा बाँस के जंगल थे और खड़ी ढलान थी। रेल सिंगल लाइन मीटर-गेज थी। संध्या हो चुकी थी और अन्धकार फैल रहा था। हम एक के पीछे एक चल रहे थे। मैं बीच में था। देखा – सामने से दस-बारह लोग कमर कसे हाथों में लम्बी-लम्बी लाठियाँ लिये एक लालटेन के साथ चले आ रहे हैं। वे लोग मलाबारी भाषा में चिल्लाकर कुछ बोले। पूछने पर पता चला – कह रहे थे कि अस्पृश्य जाति के हो, तो रास्ता छोड़कर नीचे चले जाओ। मैंने नीलकण्ठ को उत्तर देने से मना किया और हम चलते रहे। ६० से १०० हाथ तक की दूरी को वे लोग अस्पृश्यता की सीमा मानते हैं। इस सीमा में आने के पहले ही वे सभी लोग embankment (भराव) से नीचे उतर गये और बाँस के एक पेड़ के नीचे खड़े होकर देखने लगे कि ये पथिक कौन हैं ! पास आते ही वे नीलकण्ठ को पहचान गये और एक ने कहा – "अरे नीलकण्ठ, तुम ! हमने सोचा था, कोई दुष्ट (अर्थात् ईसाई) आ रहा है।" नीलकण्ठ से और भी दो-एक बात कहकर वे लोग तेजी से चले गये। मेरा गेरुआ वस्त्र देखकर कुछ कहा। नीलकण्ठ ने मुझे बताया नहीं, पर निःसन्देह गालियाँ दे रहे थे। यह दल नम्बूदरी ब्राह्मणों का था।

जब नीलकण्ठ ने यह बात बतलाई, तो हेड-मास्टर ने चिढ़कर मुझसे पूछा – "इससे आपको क्या लाभ हुआ? इस जंगल में वे नीचे उतर गये, यदि किसी को साँप काट लेता तो !" मैंने कहा – "मुझे काफी लाभ हुआ है, आपको नहीं हुआ, यह तो स्पष्ट है, पर मुझे हुआ है।" – "कैसे?" –

"मैं इस एक घटना से ही समझ गया कि नम्बूदरी लोगों की यह दशा कैसे हुई। कभी उनके प्रताप से सभी लोग काँपते थे, उनके डर से निम्न वर्ण के लोग रास्ता छोड़कर चलते थे कि कहीं वे अपवित्र न हो जायें, अतः भगवान के दिये नेत्रों से इन्हें देखकर पेड़ के पीछे छिप जाते थे। वैसे हिन्दू लोग अब भी ऐसा ही करते हैं, पर जो ईसाई या मुसलमान हो गये हैं, वे अब परवाह नहीं करते। इसीलिये अब नम्बूदरी ही उनसे डरकर चलते हैं। देखा नहीं – वे दस-बारह थे और हम केवल तीन। उनके हाथों में लाठी थी और मेरे हाथ में एक छड़ी मात्र, पर वे खुद ही भय से नीचे उतर गये। अब उनकी हालत ठीक उल्टी हो गयी है। उन्हें अब भी सँभल जाना चाहिए, अन्यथा उनके तथा उनकी मान्यताओं में विश्वास रखनेवालों के लिये, और भी बुरे दिन आनेवाले हैं।

"और शिक्षित तथा धार्मिक होकर भी आपने कैसे कहा – 'यदि किसी को साँप काट लेता, तो?' क्या केवल इन्हीं का जीवन मूल्यवान है? और जिनको ये रास्ता छोड़कर नीचे उतरने को कह रहे थे, क्या उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं है? छी, छी, आपका एकांगी विचार देखकर मैं दुखी हुआ। हर मनुष्य के जीवन का एक ही मूल्य समझना चाहिए, यद्यपि हमारे स्मृतिकार-गण ऐसा कह गये हैं, तथापि वर्ण के आधार पर ऐसा भेदभाव अनुचित है। विवेकानन्द का यही भाव था और वर्तमान विश्व के सभी मनीषियों का यही मत है। परन्तु विकास के अनुसार व्यक्ति-विशेष के मामले में ऐसा पार्थक्य किया जा सकता है और करना उचित भी है। जो लोग मनुष्य समाज की सम्पदा-स्वरूप हैं, उनका मूल्य अधिक होगा ही और होना भी चाहिए। परन्तु सामान्य अधिकार जैसे अन्य सभी के हैं, वैसे ही उनके भी होने चाहिये। सड़क पर चलने में, धर्म में, विद्या में, प्राशासनिक कानून में सभी मनुष्यों का समान अधिकार होना चाहिए।"

– "तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार भेद करके भूल की है?"

– "जरूर की है। भारत के पतन का यह एक प्रधान कारण है। उन लोगों ने स्वयं को श्रेष्ठ बताया और ऐसे नियम बना गये, ऐसी पक्की व्यवस्था कर गये, जिससे अपने कुटुम्ब के सभी लोग श्रेष्ठ कहलाएँ अर्थात् अन्य वर्ण के लोग हमेशा दबे रहें, उनके अधीन रहें। मुझे नहीं लगता कि उन लोगों ने पूरे देश या राष्ट्र के हित-अहित के बारे में कोई विशेष चिन्ता की थी। अन्यथा नियम ऐसे नहीं होते। स्वयं को आर्य जाति का कहकर जबरन श्रेष्ठ बने रहना और दूसरों को अनार्य कहकर सर्वदा दबाये रखने की प्रवृति उत्तम नहीं हो सकती – हमारे धर्म के अनुसार यह उचित नहीं है। इस कर्म का फलभोग हमने किया है, कर रहे हैं और यदि अब भी हमारी वैसी ही मनोवृत्ति बनी रही तो और भी बुरे दिन

आयेंगे। सबसे अच्छा तो यह होगा कि उस तरह की श्रेष्ठता तथा निकृष्टता को गुणों पर आधारित करके, सभी मनुष्यों को भाई – कहकर अपना बना लेना। इसीलिए स्वामीजी ने कहा है – सबमें ब्राह्मणत्व लाना होगा। ब्राह्मण को अब्राह्मण नहीं होना पड़ेगा, ऊँची जातियों को नीचे नहीं लाना है, बल्कि नीची जातियों को ऊपर उठाना है। ब्रह्मणत्व एक आदर्श का विकास है और उसमें सभी मनुष्यों का समान अधिकार है, समाज-व्यवहार के लिए वर्ण-व्यवस्था का निर्माण होने पर भी पुराणों आदि में हमारे ऋषिगण यही कहते हैं और इसी कारण उन्होंने क्षत्रिय पिता के चार पुत्रों को चार वर्णों का किया है। वही सच्ची वर्ण-व्यवस्था है और वैसा न हो तो यूरोपीय वर्ग-व्यवस्था ही ठीक है। वैदिक युग में शायद यही पहले था – गुणानुसार रंग की बात – सत्त्व-सफेद, रजस्-लाल और तमस्-काला। यह बहुत सुविधाजनक नहीं समझते हैं न? आशा करता हूँ मुझे गलत नहीं समझेंगे।

– "जी नहीं, आपके पास से एक भाव पाया।"

नीलकण्ठ – "निश्चय ही दृष्टि खुल गई। हम रामकृष्ण-विवेकानन्द के दास हैं, हमारा भाव उन्हीं के जैसा होना चाहिए।" – "धन्यवाद नीलकण्ठ, तुमने ठीक ही कहा।"

इस पर दोनों हँसने लगे। रात को और कई बातें हुई – सारी रात जागकर व्यतीत हुई। भोर में मुझे गाड़ी में चढ़ा दिया। उनके साथ परिचित होकर बहुत आनन्द हुआ था।

हाँ, एक विषय का उल्लेख करना भूल गया। आश्रम-स्थापना के दिन हाथी के ऊपर श्री ठाकुर तथा स्वामीजी के चित्रों के साथ जो शोभायात्रा निकली थी, उसमें सबके आगे पूज्य तुलसी महाराज हाथों में हुक्का लिये पीते हुए जा रहे थे। ब्राह्मण लोगों तथा अन्य कई लोगों को बड़ा आघात लगा था। यह क्या ठीक हुआ था? मेरी धारणा है कि ऐसा करने से शोभा-वृद्धि नहीं हुई थी।

मलाबारी ब्राह्मणों तथा नायरों के रंग-रूप बंगालियों की तरह हैं। ऐसी किंवदन्ती है कि परशुराम ने बंगाल से लोगों को ले जाकर ब्राह्मण बनाकर मलाबार में वैदिक धर्म तथा आर्य सभ्यता का विस्तार किया था। यह शायद सत्य हो।

नृतत्त्वविद् लोग क्या कहेंगे, यह मैं जानता हूँ, परन्तु सारा भारत भ्रमण करके मेरी धारणा हुई है कि आसाम, नेपाल, बिहार के कुछ अंश – मिथिला, दरभंगा, उड़ीसा के कुछ अंश, छोटा नागपुर के दक्षिणी अंश, बरार (महाराष्ट्र) का पूर्वी अंश, गुजरात का दक्षिणी अंश, कर्नाटक का अर्ध पूर्वी अंश तथा मलाबार तक एक विराट् जाति का आधिपत्य था। मूलत: वे आदिम निवासियों के वंशधर थे, फिर उनके रक्त से आर्य तथा मंगोलियन, अर्थात् पीला रंग व सफेद रंग मिश्रित हुआ। इधर गुजरात तक चेहरे और भाषा में मेल था, एकदम कर्नाटक के दक्षिण तक आकृति में मेल है, लेकिन उनकी भाषा नहीं जानने के कारण बंगाल के साथ किस अंश में समानता या मेल है, नहीं कह सकता।

मलाबार में एक चीज और देखी – नायर स्त्रियों की आँखों तथा चेहरे की आकृति। हजारों लड़कियों में यदि एक भी नायर लड़की हो, तो वह अपनी आँखों तथा चेहरे की आकृति से पहचानी जाती है। बाकी सबकी पोशाक, रूप-रंग एक हैं। भिन्नता होने पर भी हमें आसानी से दृष्टिगोचर नहीं होता। (यहाँ स्मरणीय है कि दक्षिण में हर सामाजिक स्तर में पोशाक आदि तथा सिर के बाल कटवाने का विशिष्ट तरीका है। वह शायद पण्डितों के आग्रह से वर्णचिह्न के रूप में राज के आदेश से शुरू हुआ।) सिर के बाल कटे देखकर ही, समझा जा सकता है कि व्यक्ति की क्या जाति है, पूछने की आवश्यकता नहीं। केवल स्त्रियों ने अभी तक यह type स्थाई रखा है। आश्चर्य ! नम्बूदरी लड़कियों के चेहरे के साथ पार्थक्य स्पष्ट है। जैसे पंजाब में पुरुष-स्त्रियाँ एक ही घाट पर स्नान करते हैं – स्त्रियाँ शायद पूर्ण नग्न होकर स्नान कर रही हैं, पर किसी को कोई संकोच नहीं है, समाज में उसका कोई उल्लेख या टीका-टिप्पणी नहीं करता, मलाबार में इसका ठीक विपरीत नजर में आता है – एक ही घाट पर पुरुष नग्न होकर स्नान करते हैं और स्त्रियाँ वस्त्र पहनकर स्नान करती हैं या बर्तन साफ करती हैं। मलाबारी बड़े साफ-सुथरे रहते हैं – उनके गाँव भी बड़े साफ होते हैं। मल-मूत्र-त्याग अपने बगीचे के पीछे गड्ढों में करते हैं – Sanitary system के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के जाने के बाद उसके ऊपर राख से ढँक देते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि वहाँ मक्खियों का उपद्रव नहीं है। दुर्गन्ध बिलकुल नहीं है। सर्वत्र साफ। दिन में तीन-चार बार स्नान करते हैं और सामान्य वस्त्र आदि होने के कारण साफ रखते हैं। जैसे-जैसे उत्तर की तरफ जाते हैं, गन्दगी ज्यादा दीखती है। एकदम उत्तर में – काश्मीर तथा तिब्बत में गन्दगी का चूड़ान्त है।

ऊटकमण्ड का आश्रम

ऊटी – ऊटकमण्ड का पहाड़ सचमुच ही सौन्दर्य की खान है। ऊँचाई अधिक न होने पर ठण्डक काफी है। पहाड़ में मिट्टी ही अधिक है। दार्जिलिंग की ही तरह इस पहाड़ पर भी पहले आदिम जातियों का निवास था। अब यह मद्रास सरकार का ग्रीष्मवास हो गया है। वहाँ पर नया आश्रम तथा मन्दिर स्थापित हुआ था, परन्तु निर्माण-कार्य तब तक पूरा नहीं हुआ था। आश्रम अब भी पहले के किराये के मकान में था। १४-१५ दिन वहाँ रहा। विविध चर्चाओं में दिन अच्छे व्यतीत हुए थे।

❖ (क्रमशः) ❖

आबूरोड में गुरुभाइयों से भेंट

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अब तक आपने पढ़ा कि कैसे १८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उस समय वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश राजा अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास पहुँचे और वहाँ से अमेरिका जाने की तैयारी करने लगे। बाद में उनकी अमेरिका-यात्रा और सम्पूर्ण जीवन-कार्य में राजस्थान और विशेषकर खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान तथा योगदान रहा – क्रमशः इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

वाक्यात रजिस्टर में लिखा है कि देखा कि १० मई, १८९३, बुधवार को राजा साहब ने स्वामीजी को पालकी में बैठाया और मुंशी जगमोहन लाल जी को उनके साथ मुम्बई जाने का आदेश दिया। कुछ ग्रन्थों में लिखा है कि राजा साहब ने जयपुर तक जाकर स्वामीजी को ट्रेन में बैठाया था, वह गलत है, क्योंकि उस समय दीर्घ काल से चल रहे उत्सव के कारण राजा साहब को कहीं जाने की फुर्सत न थी। स्वामीजी के साथ अपने निजी सचिव जगमोहन लाल को भेजते समय उन्होंने उन्हें भलीभाँति निर्देश दे दिया था कि उनके लिये यात्रा की वैसी ही व्यवस्था की जाय, जैसी कि एक राजा के गुरु की हो सकती है।

जयपुर से आबूरोड

अनुमान है कि जगमोहन लाल के साथ दो-एक सहयोगी और भी रहे होंगे। जयपुर से रेलगाड़ी पकड़कर वे लोग मुम्बई की ओर रवाना हुए। प्रियनाथ सिन्हा लिखते हैं – "आबूरोड स्टेशन पर पहुँचकर उन्होंने अपने एक रेल-कर्मचारी भक्त[१] के घर रात बितायी।"[२] खेतड़ी जाते समय वे इस स्टेशन से दस मील दूर आबू पहाड़ में स्थित खेतड़ी-राजा के ग्रीष्मावास में अपने दो गुरुभाइयों – स्वामी ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द के रहने की व्यवस्था कर गये थे। इन दोनों गुरुभाइयों की इस प्राचीन तीर्थ में तपस्या करने की इच्छा होने के कारण ही सम्भवतः उन्होंने ऐसा किया था। उन्होंने पहले से ही पत्र तथा तार भेजकर मिलने के लिये दोनों गुरु-भाइयों को आबूरोड स्टेशन पर बुला लिया था।

स्वामीजी के २२ मई के पत्र[३] (बाद में उद्धृत होगा) से अनुमान किया जा सकता है कि वे लगभग १४ मई को जयपुर, १६ को आबू रोड, १८ को नडियाद और २० मई को मुम्बई पहुँचे होंगे। इसी पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि स्वामीजी ने जयपुर से मद्रास के भक्तों को एक टेलीग्राम भेजकर निर्देश दिया था कि इस दौरान यात्राव्यय के लिये जो भी रुपये एकत्र हुए हों, उन्हें लेकर मुम्बई पहुँच जायँ। सम्भवतः जयपुर से ही उन्होंने अपने गुरुभाइयों के नाम भी आबू रोड स्टेशन पर आकर मिलने के लिये तार भेजा था।

गुरुभाइयों से मिलन

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी १० मई (१८९३) को खेतड़ी से चलकर, जयपुर होते हुए १६ या १७ मई को आबूरोड स्टेशन पर पहुँचे और एक पूर्व-परिचित रेल-कर्मचारी तारिणी बाबू के घर रात्रिवास किया। उधर उनके दोनों गुरुभाई – ब्रह्मानन्दजी और तुरीयानन्दजी भी रात भर एक बैलगाड़ी में चलकर सुबह वहाँ आ पहुँचे। उन लोगों के शरीर में पीड़ा हो रही है, यह सुनकर स्वामीजी बोले – "गाड़ीवान को दो पैसे देने से वह गाड़ी में पुआल बिछा देता; कोई कष्ट नहीं होता।"[४] अनुमान होता है कि स्वामीजी ने वह पूरा दिन उन लोगों के साथ बिताया। उस दौरान उन्होंने अपनी भावी योजना के विषय में बहुत-सी बातें कहीं और यह भी बताया कि उन लोगों को आगे क्या करना उचित होगा।

गुरुभाइयों से वार्तालाप

स्वामीजी की अपने गुरुभाइयों से अपने हृदय-परिवर्तन, देश के गरीबों के लिये विदेश जाने, उन्हीं के कार्य हेतु शिकागो धर्म-महासभा का आयोजन होने आदि विषयक जो अनेक भावपूर्ण बातें कहीं थीं, उनके विविध उल्लेखों में

१. तारिणी बाबू। (ब्रह्मानन्द-चरित, बँगला, स्वामी प्रभानन्द, पृ. ९७)। स्वामी शिवानन्द जी कहते हैं कि वे 'बंगाली सज्जन ट्रैफिक सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में कर्मी थे। (महापुरुषजीर कथा, पृ. १०२)। पुरानी अंग्रेजी जीवनी (सं. १९१३, २/१५६) के अनुसार वे स्वामीजी के भ्रमणकाल में उनके मेजबान रह चुके थे, अतः १८९१ ई. में माउंट आबू जाने के मार्ग में स्वामीजी सम्भवतः उन्हीं के यहाँ ठहरे थे।

२. 'उद्बोधन' (बँगला पाक्षिक), वर्ष ७, अंक १४, १ भाद्र १३१२ बं. – (हिन्दी अनुवाद विवेक-ज्योति, १९९३, अंक २, पृ. ४६-४७)। इस विवरण के अनुसार आबू पहाड़ से केवल एक गुरुभाई (तुरीयानन्द) ही आये थे और वे तथा रेल-कर्मचारी मुम्बई तक स्वामीजी के साथ गये, पर यह प्रामाणिक नहीं लगता। (द्र. समकालीन., खण्ड १/६२)

३. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३८८-९

४. ब्रह्मानन्द-चरित, बँगला, स्वामी प्रभानन्द, पृ. ९७, तथा जीवन्मुक्त तुरीयानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द, नागपुर, पृ. २९

स्थान-काल का तालमेल बैठाना टेढ़ी खीर है। सम्भव है कि कुछ बातें मुम्बई में हुई रही हों, कुछ ट्रेन से आबूरोड की यात्रा के समय हुई हों और कुछ तब हुई हों, जब स्वामीजी अमेरिका के लिये प्रस्थान करने के पूर्व मुम्बई के रास्ते में आबूरोड स्टेशन पर उन लोगों से मिले। स्वामी अशोकानन्द द्वारा प्राप्त सामग्री के आधार पर नोबल-पुरस्कार से सम्मानित सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी साहित्यकार रोमाँ रोलाँ लिखते हैं –

"मुम्बई के निकट आबूरोड स्टेशन पर सहसा उनकी भेंट ब्रह्मानन्द और तुरीयानन्द से हो गई। उन्होंने बड़े दु:खपूर्ण आवेग के साथ उन लोगों को उन पीड़ित देशवासियों की आर्त पुकार की बात कही, जिसने उन्हें इस यात्रा के लिये विवश कर दिया था – 'मैं पूरे भारत का भ्रमण कर चुका हूँ, परन्तु भाइयो, मैंने अपनी खुद की आँखों से बड़े खेदपूर्वक आम जनता की भयंकर निर्धनता तथा पीड़ा को देखा और मैं अपने आँसू न रोक सका ! अब मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि पहले उनकी निर्धनता तथा पीड़ा को दूर करने का प्रयास किये बिना उनके बीच धर्म-प्रचार करना निरर्थक है। यही कारण है कि मैं अब भारतीय गरीबों की मुक्ति के लिये और भी संसाधन जुटाने अमेरिका जा रहा हूँ।'

"उपरोक्त वाक्य स्वामीजी की बड़ी (अंग्रेजी) जीवनी में उद्धृत हुए हैं। उस भेंट की कुछ अन्य बातें स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द ने लिपिबद्ध करके 'द मार्निंग स्टार' पत्रिका के ३१ जनवरी १९२६ ई. के अंक में प्रकाशित किया है – "ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द माउंट आबू में निर्जनवास करते हुए बड़ी कठोर तपस्या कर रहे थे। उन्हें स्वामीजी से भेंट होने की कोई आशा न थी। (परन्तु) उनके अमेरिका के लिये प्रस्थान के कुछ सप्ताह पूर्व वे लोग आबूरोड स्टेशन पर उनसे मिले। नरेन ने उन्हें अपनी सारी योजना, अपनी हिचक तथा अपने इस विश्वास से उन्हें अवगत कराया कि उन्हीं (स्वामीजी) के कार्य हेतु ईश्वर ने धर्म-महासभा का आयोजन किया है। स्वामी तुरीयानन्द ने उनके प्रत्येक शब्द तथा उनकी आवाज के सुर को दुहराया। भावावेग से लाल हो उठे मुख-मण्डल के साथ नरेन कह उठे थे – 'हरि भाई, तुम्हारा वह तथाकथित धर्म अब तक मैं जरा भी नहीं समझ सका हूँ !' अपने पूरे व्यक्तित्व से दु:ख तथा तीव्र भावावेग की गहन अभिव्यक्ति के साथ उन्होंने अपना काँपता हुआ हाथ सीने पर रखा और बोले, 'परन्तु मेरा हृदय बहुत ही अधिक विस्तृत हो गया है। अब मैं दूसरों की पीड़ा को अनुभव करना सीख गया हूँ। विश्वास करो, मैं अब बड़ी तीव्रता के साथ करुणा बोध करता हूँ।' यह कहते हुए उनका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और गालों से होकर अश्रु प्रवाहित होने लगे।

"इस घटना का वर्णन करते समय तुरीयानन्दजी भाव-विह्वल हो उठे थे। फिर भीगे नयनों के साथ ही वे कहने लगे – 'जिस समय मैं स्वामीजी की ये करुण बातें सुन रहा था और उनकी भव्य पीड़ा को देख रहा था, उस समय जानते हो मेरे मन में क्या चल रहा था? मैं सोच रहा था कि बुद्धदेव ने भी तो ऐसा ही अनुभव किया था और ऐसी ही बातें कही थीं। फिर मुझे याद आया कि काफी काल पूर्व जब वे बोधिवृक्ष के नीचे ध्यान करने बोधगया गये थे, तब भगवान बुद्ध उन्हें दर्शन देकर उनके शरीर में ही समा गये थे। ... मैं स्पष्ट रूप से देख रहा था कि स्वामीजी का हृदय जगत् की दु:खराशि से स्पन्दित हो रहा है। उनका हृदय मानो एक बड़ी कड़ाही थी, जिसमें जगत् के सारे दुखों को पकाकर एक मलहम तैयार हो रहा था। कोई भी व्यक्ति स्वामीजी को तब तक समझ नहीं सकता था, जब तक कि उसे उनके भीतर उबल रहे भावों के अंश मात्र की भी झलक न मिल जाय।"[५]

अन्य अवसरों पर तुरीयानन्दजी ने बताया था – "स्वामीजी की इन बातों से हमें बुद्धदेव का स्मरण हो रहा था। उस समय स्वामीजी का शरीर काफी स्वस्थ था और चेहरा अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय था।"[६] "वहीं पर किसी प्रचारक की प्रचार-प्रणाली की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी ने कहा था, 'यह क्या हो रहा है ! क्या इस तरह भी कहीं प्रचार होता है? यथार्थ प्रचार तो अपने चरित्र के द्वारा होता है। तुम्हारा चरित्र देखकर लोग समझें कि जब इनका चरित्र इतना उन्नत है, तो इनके गुरु न जाने और भी कितने महान् रहे होंगे। वे तो अवश्य ही अवतार रहे होंगे।' "[७]

ट्रेन में अन्तिम सलाह

उक्त रेल्वे कर्मचारी, स्वामी ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द – ये तीनों स्वामीजी तथा मुंशीजी को ट्रेन में विदा करने आये थे। ट्रेन में सवार होते समय भी स्वामीजी ने गुरुभाइयों को कुछ सलाहें दी थीं। बाद में एक बार स्वामीजी ने बताया था – "राखाल (ब्रह्मानन्दजी) से कहा – 'जा, (वराहनगर) मठ लौट जा, खेतड़ी के राजा को बोल देता हूँ, तुम लोगों को हर महीने १०० रुपये देंगे, इससे एक तरह से चल जायेगा।' सो तो नहीं, राखाल को वैराग्य हुआ और रुपये नहीं लिये।"[८] इसका कारण यह था कि तब भी ब्रह्मानन्दजी के मन निर्जन-वास तथा तपस्या की साध मिटी नहीं थी, लगता है इसीलिये वे राजी नहीं हुए। स्वामीजी ने तुरीयानन्दजी से कहा – "राजा (ब्रह्मानन्दजी) को छोड़ दो। वह अकेला

५. लाइफ ऑफ स्वामी विवेकानन्द, रोमाँ रोलाँ – नया अंग्रेजी संस्करण, पृ. २३-२४ (पाद-टिप्पणी); तथा स्वामी विवेकानन्द : एक जीवनी, स्वामी निखिलानन्द, प्र.सं., पृ.१११-११२

६. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बँगला), प्र. सं., पृ. १

७. अध्यात्म-मार्ग-प्रदीप (स्वामी तुरीयानन्द), प्रथम सं., पृ. २१९

८. लण्डने स्वामी विवेकानन्द (बँगला), भाग १, पृ. १५८-५९

भ्रमण करे और तुम मठ में लौटकर ठाकुर का कुछ काम करो, मठ की उन्नति का प्रयास करो।''[९] विदाई के समय दोनों गुरुभाइयों ने कहा कि उन लोगों ने स्वामीजी की शुभ-यात्रा के लिए ठाकुर से प्रार्थना की।

जैसा कि स्वामीजी का निर्देश था, स्वामी ब्रह्मानन्द ने बाद में पत्र लिखकर स्वामी अखण्डानन्द को भी वहीं बुला लिया। अखण्डानन्दजी ने इस प्रसंग में लिखा है – ''आबूरोड स्टेशन पर स्वामी ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द से मिलन हुआ। वहीं पर ब्रह्मानन्दजी ने मुझसे कहा, 'जानते हो, स्वामीजी अमेरिका क्यों गये हैं?' मैं बोला, 'नहीं।' स्वामी ब्रह्मानन्द ने कहा, 'स्वामीजी जब पश्चिमी घाट तथा महाराष्ट्र अंचल में भ्रमण कर रहे थे, उस समय आम लोगों का दुख-दारिद्र्य तथा बड़े लोगों के अत्याचार देखकर वे सर्वदा रोया करते थे। उन्होंने हम लोगों को बताया था, ''देखो भाई, इस देश में इतनी दु:ख-दरिद्रता है कि अभी यहाँ धर्म-प्रचार का समय नहीं हुआ है। यदि कभी इस देश की दु:ख-दरिद्रता दूर कर सका, तभी धर्म की बातें सुनाऊँगा। अत: कुबेर के देश जा रहा हूँ, देखूँ यदि कुछ उपाय हो सके।'' ' ''[१०]

ट्रेन की महत्त्वपूर्ण घटना

ट्रेन आकर आबूरोड स्टेशन पर खड़ी थी। स्वामीजी के डिब्बे में एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई, जिसका वर्णन करते हुए श्री प्रियनाथ सिन्हा अपने पूर्वोक्त लेख में कहते हैं –

स्टेशन पर स्वामीजी के भक्त एक बंगाली सज्जन उनके साथ गाड़ी में बैठकर वार्तालाप कर रहे थे। उसी समय एक अंग्रेज टिकट कलेक्टर ने आकर उन सज्जन को उतरकर चले जाने का आदेश दिया। परन्तु वे वहीं बैठकर समय होने की प्रतीक्षा करते रहे। अपने आदेश का पालन न होते देखकर साहब ने नाराज होकर रेलवे कानून की दुहाई देते हुए उनसे पुन: उतर जाने को कहा। वे सज्जन भी रेल-कर्मचारी थे और कानून से परिचित थे। वे बोले कि ऐसा कोई कानून नहीं है, जिसके आधार पर वे उतर जाने को बाध्य हों। अत: दोनों के बीच अच्छा-खासा वाद-विवाद उत्पन्न हो गया। स्वामीजी द्वारा बारम्बार भक्त को झगड़ा करने से मना करने के बावजूद, क्रमश: उनका पारा चढ़ते देख स्वामीजी उन्हें रोकने का प्रयास कर रहे थे, उसी समय सहसा अंग्रेज ने स्वामीजी को भी डाँटते हुए कहा, ''तुम काहे को बात करते हो?'' गेरुआ पहने कोई साधारण संन्यासी समझकर ही सम्भवत: साहब ने यह बात कही थी। रेलगाड़ी में कितने ही गेरुआधारी साधु आवागमन करते थे और साहबों से धक्के खाकर भी चुपचाप चले जाते थे। अत: अंग्रेज ने उन्हें भी वैसा ही कोई समझा था। अंग्रेजों के सामने आबाल-वृद्ध-वनिता भला कौन नहीं डरता? कौन संकुचित नहीं हो जाता? अंग्रेज लोग भी इस देश में पदार्पण करते ही देशी लोगों में यह भाव देखकर अपना सीना नौ गज फुला लेते और काले आदमी को आदमी तक नहीं समझते थे। इसमें वे बड़े आनन्द की अनुभूति भी किया करते थे। आसुरी भाव के लोगों को इसमें मजा आना स्वाभाविक ही है।

परन्तु साहब को यह मालूम नहीं था कि इस बार उसका पाला एक सिंह से पड़ा है। (अब तक बातें हिन्दी में हो रही थीं।) स्वामीजी ने आँखें लाल करके अंग्रेजी में गरजते हुए कहा – ''इस 'तुम' से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? क्या तुम ठीक से पेश नहीं आ सकते? क्या तुम्हें मालूम नहीं कि उच्च श्रेणी के यात्रियों से कैसे बात की जाती है? 'आप' सम्बोधित करके क्या सज्जन के समान बातें नहीं कर सकते?'' साहब ने हकलाते हुए उत्तर दिया – ''मुझे खेद है कि मैं यह भाषा अच्छी तरह नहीं जानता। मैं तो केवल यही चाहता था कि यह आदमी ...।'' स्वामीजी और भी नाराज होकर बोले – ''मूर्ख कहीं के ! तुम कहते हो कि तुम हिन्दी भाषा ठीक से नहीं जानते, परन्तु अब देखता हूँ कि तुम अपनी अंग्रेजी भाषा भी ठीक से नहीं जानते ! क्या तुम इनका 'ये सज्जन' कहकर उल्लेख नहीं कर सकते? अपना नाम और नम्बर बताओ, मैं अधिकारियों से तुम्हारे दुर्व्यवहार की शिकायत करूँगा।''

शोर-गुल सुनकर वहाँ बहुत-से लोगों की भीड़ एकत्र हो गयी थी। स्वामीजी की फटकार सुनकर अंग्रेज की तो सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी थी। कुछ बोल पाने में असमर्थ होकर वह किनारा काटकर निकल जाने के प्रयास में था। स्वामीजी ने फिर कहा – ''मैं तुम्हें अन्तिम विकल्प देता हूँ – या तो तुम मुझे अपना नाम तथा नम्बर दो, और नहीं तो फिर लोग देखें कि तुम्हारे जैसा कायर इस दुनिया में दूसरा नहीं है।''

साहब गरदन नीचा किये हुए खिसक गया। मुंशीजी स्वामीजी के साथ प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठे हुए थे। इसके बाद स्वामीजी जगमोहन को अंग्रेजों के समक्ष हमारे स्वाभिमान के अभाव पर दो घण्टे तक व्याख्यान देते रहे। जगमोहन एक महा-अपराधी के समान सिर झुकाये सब सुनते रहे। स्वामीजी बोले – ''जगमोहन, हिन्दू लोग अपने लाखों गुणों के कारण अन्य जातियों की अपेक्षा उच्च हृदय वाले हैं। केवल धर्मशिक्षा विकृत हो जाने के कारण ही वे स्वयं को सबसे गया बीता समझते हैं। इसीलिये वे जूतों की ठोकर खाकर भी उसे झाड़ लेते हैं।''[११]

❖ (क्रमशः) ❖

९. जीवन्मुक्त तुरीयानन्द, स्वामी जगदीश्वरानन्द, पृ. २९

१०. 'स्मृतिकथा' (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, सं. ३, पृ. १०३-४

११. 'उद्बोधन' (बँगला पाक्षिक), वर्ष ७, अंक १४, १ भाद्र १३१२ बं. (हिन्दी अनुवाद विवेक-ज्योति, १९९३, अंक २, पृ. ४७-४९)
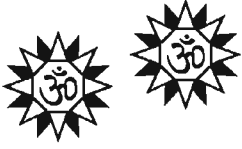
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण (३)
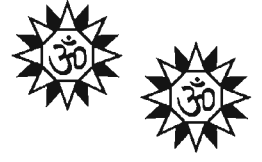
के. सुन्दरराम अय्यर

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं । प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है । – सं.)

अब हम उनके चेन्नै के द्वितीय व्याख्यान के प्रसंग पर आते हैं । उस दिन प्रात:काल मैं डॉ. सुब्रह्मण्य अय्यर के विशेष अनुरोध पर उनके लूज चर्च रोड के मकान में जाकर स्वामीजी से मिला । ऊपरी मंजिल के एक कमरे में हमारी भेंट हुई । स्वामीजी ने हम लोगों को अपनी कार्य-योजना समझाते हुए बताया कि किस प्रकार वे भारत में एक ऐसा धार्मिक सुधार तथा पुनर्जागरण लाना चाहते हैं; जो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध तथा अन्य सभी मतावलम्बियों को भ्रातृभाव के एक ही सामान्य ध्वजा के नीचे संगठित करेगा और सबको एक ही राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर ले जाने के प्रयास में लगाने के निमित्त एक चिरन्तन प्रेरणा का स्रोत होगा । वे एक नये प्रकार का मन्दिर बनाना चाहते थे, जिसमें एक हॉल के अन्दर सभी महान् धर्मों के आचार्यों एवं सन्तों की मूर्तियाँ होंगी । और उसके पीछे खुले आकाश में एक स्तम्भ पर 'ॐ' खुदा होगा ।

लिखने के उपयुक्त उस दिन और कुछ नहीं हुआ । मेजबान अय्यर महाशय ने स्वामीजी के लिए बहुत से लड्डू, अन्य मिठाइयाँ तथा अनेक मसालेदार चीजें बनवा रखी थीं । स्वामीजी ने उनमें से नाम मात्र ही ग्रहण किया । साथ में अपरिहार्य रूप से ग्रहण की जानेवाली काफी भी थी, उसे भी स्वामीजी ने थोड़ा सा चख भर लिया । स्वामीजी सम्भवत: कभी अति भोजन के अभ्यस्त नहीं थे – कम से कम मैंने तो कभी उन्हें ऐसा करते नहीं देखा । जब वे त्रिवेन्द्रम में हमारे घर ठहरे थे, उस समय वे दिन में केवल एक बार हल्का सा आहार करते थे और रात में थोड़ा-सा दूध भर लेते थे ।

दिन के समय कैसल में मैंने और कोई उल्लेखनीय घटना नहीं देखी । अन्य दिनों के समान ही उस दिन भी दर्शनार्थियों का ताँता लगा रहा और उनमें सदा के समान सम्भ्रान्त वंश की महिलाएँ भी थीं जो स्वामीजी की पादपूजा कर उनका आशीर्वाद पाने को आया करती थीं । आगन्तुकों में कोयम्बटूर का एक युवक भी था । उसने लांगमैन कम्पनी द्वारा प्रकाशित स्वामीजी के राजयोग पर व्याख्यान पढ़ रखे थे और उनमें लिखित निर्देशों के अनुसार थोड़ी योग-साधना भी की थी । उसने अपनी अनुभूतियों का वर्णन किया और बताया कि उसे लगता है कि उसका शरीर क्रमश: हल्का होता जा रहा है । उसने स्वामीजी को यह भी बताया कि उसके कुछ मित्रों ने, विशेषकर पण्डित-मित्रों ने उसे सावधान किया है कि योगाभ्यास के दौरान भ्रम की अवस्था में मार्ग-दर्शन के लिए तथा किस साधना के बाद कौन-सी साधना में अग्रसर हुआ जाय ऐसे संशयों के निवारणार्थ एक व्यावहारिक गुरु की सहायता लिए बिना यदि वह योगाभ्यास में लगा रहा, तो इसमें खतरे की सम्भावना है । स्वामीजी ने उसे उन लोगों की बातों पर ध्यान देने से मना करते हुए कहा कि वह समाधि रूपी अपने लक्ष्य प्राप्ति के संकल्प में डटा रहे । उन्होंने बताया कि प्रत्येक कदम उसे आगे ले जायेगा और बाधाओं पर विजय पाने में समर्थ बनायेगा । उसमें कोई खतरा नहीं है और जब कभी आवश्यकता होगी, तब वे स्वयं ही सहायता करने को तैयार हैं । युवक पूरी तौर से सन्तुष्ट होकर अपने नगर लौट गया । जब वह कैसल में स्वामीजी से मिला, तो पश्चिम अथवा भारत वेदान्त के प्रवक्ता के रूप में उनकी भूमिका के विषय में उसने जरा भी रुचि नहीं दिखाई ।

शाम को स्वामीजी ने 'भारत के महापुरुष' विषयक अपना द्वितीय व्याख्यान दिया । विक्टोरिया हॉल पूरी तौर से भर गया था । उस दिन की सभा की एक उल्लेखनीय बात यह थी कि 'मद्रास मेल' के सम्पादक श्री एच. ब्यूचैम्प भी मंच पर बैठे थे । स्वामीजी के मद्रास के व्याख्यानों तथा सभाओं में अन्य कोई भी यूरोपियन नहीं आया था । परन्तु स्वामीजी के व्याख्यान के बीच में ही वे उठकर चले गए । मैंने देखा (और सम्भव है यह संयोगवश ही हुआ हो) कि जिस समय श्री ब्यूचैम्प उठकर गए, उस समय स्वामीजी 'गोपिका-गीतम्' के निम्नलिखित सुप्रसिद्ध श्लोक को उद्धृत करने के बाद श्री कृष्ण की लीला का वर्णन कर रहे थे (श्रीमद्भागवत, १०/३१/१४) –

सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठुचुम्बितम् ।
इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ।।

– "तुम्हारे उन दिव्य होठों का जिसे एक भी चुम्बन प्राप्त हुआ है, उसके सारे दु:ख दूर हो जाते हैं और सर्वदा तुम्हारे लिये उसकी पिपासा बढ़ती जाती है ।" आदि, आदि ।

यह स्वामीजी द्वारा उद्धृत श्लोक का भावानुवाद था । जो

भी हो, मेरा विश्वास है कि श्लोक में ऐसा कुछ नहीं था, जो श्री ब्यूचैम्प की ब्रिटिश सौजन्यता को आघात पहुँचाता; अत: स्वामीजी की श्रीकृष्ण-विषयक उक्ति उनके सभा से उठ जाने के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था।

१२ फरवरी, शुक्रवार को मैंने दो बार स्वामीजी का दर्शन किया। प्रात:काल कैसल कर्नन में लगे हुए शामियाने में लोगों की भीड़ लगी हुई थी और स्वामीजी जब आकर मंच पर बैठे तो लोगों का उत्साह सँभल नहीं रहा था। हम लोगों ने पहले से ही सजीव विवरण पढ़ रखे थे कि अमेरिका में पूछे गए प्रश्नों के उन्होंने किस प्रकार उत्तर दिए थे, कैसे उनके उत्तर बिजली के समान आकर श्रोताओं को उनकी अपूर्व मेधाशक्ति तथा जीवन एवं विश्व के विषय में उनके गहन ज्ञान को दर्शा देते; और जो विरोधी लोग उन्हें परेशान या निरुत्तर करने की इच्छा से आते, उनका कटाक्षपूर्ण प्रत्युत्तर कैसे उन लोगों में किंकर्तव्यविमूढ़ता की सृष्टि किया करता था! इस अवसर पर हमें भी उनके तर्क का असि-कौशल तथा सच्चे जिज्ञासुओं के प्रति उनकी सहानुभूति को देखने का अच्छा सुयोग मिला। उनके समक्ष गुणग्राही श्रोताओं का एक विराट् समूह उपस्थित था। उस दिन उन्हें आशानुरूप सफलता ही मिली थी, परन्तु खेद की बात है कि मेरी स्मरण-शक्ति अब मेरी सहायता कर पाने में असमर्थ है, विशेषकर उस दिन जो कुछ हुआ था, वह मेरे मानस-पटल से पूर्णत: लुप्त हो चुका है।

उस दिन एक सुन्दर तथा कुशाग्रबुद्धि-सम्पन्न यूरोपीय युवती ने उनसे वेदान्त पर अनेक प्रश्न किये, यथा – आत्मा की अनुभूति से क्या तात्पर्य है? माया क्या है? मनुष्य के अस्तित्व का ब्रह्माण्ड से क्या सम्बन्ध है? आदि, आदि। इनके उत्तर में स्वामीजी ने अपनी सम्पूर्ण ज्ञानराशि तथा तर्कशक्ति को उन्मुक्त कर दिया था, जिससे सारे श्रोतागण और विशेषकर वह महिला आनन्द तथा बोध से सन्तुष्ट हो गये थे। उसने स्वामीजी के प्रति आभार एवं परम कृतज्ञता का भाव व्यक्त करते हुए बताया कि कुछ दिनों में ही वह लन्दन लौटकर पुन: वहाँ की गन्दी बस्तियों के अपने सेवाकार्य में लग जायेगी। उसने यह भी कहा कि यदि उसे दुबारा कभी उनसे मिलने का अवसर मिला, तो वह इसे अपना परम सौभाग्य मानेगी, परन्तु ऐसी कोई सम्भावना दिखती नहीं। स्वामीजी ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा कि थोड़ा विश्राम करने के बाद इस देश में रामकृष्ण मिशन आरम्भ करने के बाद उनका पुन: लन्दन जाने का विचार है।

महिला को विदा करने के लिये स्वामीजी ने स्वयं उठकर भीड़ में से उनके लिए जाने का मार्ग बना दिया और उक्त महिला के उन्हें अभिवादन कर चले जाने तक वहीं खड़े रहे।

मैंने सुना कि अपराह्न में वे महिला पुन: आयी थीं, अपने पिता को साथ लेकर, जो चेन्नै में ही एक ईसाई मिशनरी के रूप में कार्य करते थे और स्वामीजी से उनके लिए भी समय माँगा था। स्वीकृति मिलने के बाद उनके बीच लगभग एक घण्टे वार्तालाप चला था। आगन्तुकों के चले जाने के बाद स्वामीजी से भेंट होने पर मैंने उनसे पूछा कि उन्हें इस प्रकार निरन्तर कार्य करने को उन्हें शक्ति तथा ऊर्जा कहाँ से प्राप्त होती है? इस पर उन्होंने मुझे निम्नलिखित उत्तर दिया जो कि समझनेवालों के लिए काफी तात्पर्यपूर्ण है – "किसी भारतीय के लिये आध्यात्मिक कार्य कभी थकाऊ नहीं होता।"

मध्वाचार्य के अनुयायी एक युवक तथा उसके प्रश्न की बात मैं पहले कह आया हूँ, जो तिरुपत्तुर से आये प्रतिनिधि-मण्डल में सबसे आगे खड़ा था और उसके हाथों में प्रश्नों की एक लम्बी तालिका थी, जिसका उद्देश्य स्वामीजी को चुनौती देना तथा उन्हें उलझन में डालना था।

चूँकि स्वामीजी अद्वैतवादी थे, इसीलिए लगता है कि तिरुपत्तुर के प्रतिनिधि-मण्डल को जान-बूझकर ऐसा बनाया गया था कि वह उन पुरुषसिंह के पास जाकर, उन्हीं के गढ़ में उन्हें चुनौती दे और अद्वैतवाद के कुछ मूलभूत विषयों पर उन्हें कठिनाई में डाल सके। दल के नेता के हाथ में प्रश्नों का एक लम्बा कागज था और उन्होंने स्वामीजी से उत्तरों की माँग की। स्वामीजी ने सिर हिलाकर अपनी सहमति व्यक्त की और उनसे आरम्भ करने को कहा। जहाँ तक मैं जानता हूँ, उस दिन के वे तरुण प्रश्नकर्ता अब चेन्नै के एक उत्साही तथा जागरूक नागरिक के रूप में विकसित हो गये हैं और नगर-महापालिका के एक अत्यन्त सक्रिय सदस्य हैं। यदि कभी यह पृष्ठ या ये पंक्तियाँ उनकी निगाह में आयीं, तो मुझे आशा है कि वे मेरे वक्तव्य का गलत अर्थ नहीं लेंगे। काल के इस सुदीर्घ अन्तराल के बाद, अब मुझे जो कुछ स्मरण रह गया है, स्वामीजी के उन उत्तरों को मैं उन्हीं के शब्दों में पहले ही उद्धृत कर चुका हूँ। स्वामीजी के उत्तर सुनकर वे कुछ-कुछ भौचक्के रह गये थे और स्वामीजी के सामने प्रश्न रखनेवाले प्राय: हर व्यक्ति के साथ मैंने ऐसा ही होते देखा है।

उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न वेदान्त का एक मूलभूत प्रश्न था, जहाँ सम्भवत: उसकी कुछ भिन्न प्रकार से व्याख्या की गयी है, परन्तु स्वामीजी ने अपनी स्वयं की शैली में ही उसका उत्तर दिया, यद्यपि महान् भाष्यकार आचार्य शंकर के ग्रन्थों में उसका संकेत है। स्वामीजी के उत्तर को मैं पहले ही उद्धृत कर चुका हूँ, अत: यहाँ उनकी पुनरावृत्ति नहीं करूँगा। पर जिस युवक ने प्रश्न किया था, वह उसे सुनकर हक्का-बक्का रह गया और उलझन में पड़कर बोला – "क्या कहा, सर?" स्वामीजी के प्रति उसका 'सर' सम्बोधन सुनकर श्रोताओं में हल्की-सी खुसपुसाहट होने लगी। मगर जहाँ तक मुझे याद है, उस घटना का वहीं पटाक्षेप हो गया था।

उसी समय एक अन्य रोचक घटना भी हुई थी। एक वैष्णव पण्डित ने संस्कृत में बोलते हुए चर्चा के लिए वेदान्त का कोई कूट प्रश्न उठाया। चूँकि उस समय तक मैंने देवभाषा का अध्ययन नहीं किया था, इसलिये मैं उसका यथार्थ मर्म समझने में असमर्थ था और उसके बारे में अब कुछ भी नहीं कह सकता। स्वामीजी ने धैर्यपूर्वक पण्डितजी की बातें सुनी, परन्तु उन्हें सीधे कोई उत्तर न देकर उन्होंने उपस्थित श्रोताओं को अंग्रेजी में बताया कि सिद्धान्त सम्बन्धी जिन सूक्ष्म विवरणों का व्यावहारिक जीवन में कोई महत्त्व नहीं है, उन्हें लेकर वृथा तर्क करते हुए समय गँवाने में उनकी कोई रुचि नहीं है। इस पर पण्डितजी ने स्वामीजी से स्पष्ट रूप से यह बताने को कहा कि वे अद्वैतवादी हैं या द्वैतवादी। स्वामीजी ने पुन: अंग्रेजी में जिस भंगिमा तथा स्वर में उत्तर दिया वह अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है – "पण्डितजी को बता दो कि जब तक मेरा शरीर है, तब तक मैं द्वैतवादी हूँ, उसके बाद नहीं। जिन व्यर्थ एवं हानिकारक तर्क तथा वाद-विवाद के जाल में पड़कर मन केवल विभ्रान्त हो जाता है और मानव जीवन को दु:खदायी मानते हुए यहाँ तक कि नास्तिक या अज्ञेयवादी हो जाता है, उन्हें दूर करने के लिए ही मैंने देहधारण किया है।" इस पर पण्डितजी ने तमिल भाषा में कहा – "स्वामीजी का वक्तव्य उन्हें वस्तुत: अद्वैतवादी सिद्ध करता है।" स्वामीजी बोले – "ऐसा ही हो।" और मामला वहीं समाप्त हो गया।

इन्हीं दिनों एक अन्य घटना हुई, जिसमें मैं भी व्यक्तिगत रूप से जुड़ा था। पहले ही रेवेन्यू बोर्ड के सचिव श्री आर. वी. श्रीनिवास अय्यर का उल्लेख हो चुका है, जिनके साथ स्वामीजी के आगमन वाले दिन मैं एगमोर स्टेशन गया था। एक बार हम दोनों स्वामीजी के बारे में बातें कर रहे थे कि अमेरिका से लौटने के बाद पश्चिम तथा भारत में उनका धर्म-प्रचार कैसे चलेगा। श्रीनिवास अय्यर ने कहा कि जब तक किसी को यह याद नहीं होता कि पिछले जन्मों में क्या हुआ था, तब तक उस समय की घटना और वर्तमान जीवन की अनुभूतियों के बीच कोई भी कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं ढूँढ़ा जा सकेगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति तथा उसके साधनों के विषय में वेदान्त की शिक्षाओं से भला क्या लाभ हो सकता है? जब तक कर्म और उसके फलस्वरूप होनेवाले पुनर्जन्म के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता, तब तक मनुष्य को यही सीखकर सन्तुष्ट हो जाना चाहिये कि किस प्रकार उद्यम करके इस जगत् में सुखपूर्वक रहा जा सकता है। और बात यहीं समाप्त हो जाती है। अत: केवल दर्शन-शास्त्र के छात्रों के लिये विचार तथा विश्लेषण को छोड़ वेदान्त का कोई व्यावहारिक मूल्य नहीं है।

वे चाहते थे कि मैं स्वामीजी से दो-एक प्रश्न पूछकर उनका उत्तर प्राप्त करूँ। उनके प्रश्न निम्नलिखित थे और उनके साथ ही मैं स्वामीजी के उत्तर भी दे रहा हूँ।

प्रश्न (१) – "जब तक हमें पिछले जन्मों की याद नहीं है, तब तक हममें कर्मफल तथा पुनर्जन्म में विश्वास कैसे आ सकता है? या वह कैसे हमारे व्यावहारिक जीवन में प्रेरणा दे सकता है? और किस प्रकार हमारे विचार तथा क्रियाओं में पवित्रता की प्रवृत्ति उत्पन्न कर आत्मसाक्षात्कार के द्वारा संसार से मुक्ति पाने का प्रयास उत्पन्न कर सकता है?

स्वामीजी – "इस जीवन की घटनाओं का भी तो हमें सर्वदा स्मरण नहीं रहता, तथापि हम अपने दैनन्दिन जीवन के कार्य इस प्रकार करते रहते हैं मानो वे कार्य-कारण के सूत्र से ग्रथित हों और हमारे जीवन तथा भविष्य को प्रभावित कर रहे हों। अत: क्यों न हम पिछले तथा वर्तमान जन्म की घटनाओं के बीच भी वैसा ही सम्बन्ध मानकर चलें और संसार तथा इसके अतीत तथा वर्तमान दुखों से मुक्ति पाने के लिए वेदों तथा गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपायों का अनुसरण करें?"

प्रश्न (२) – "अपने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं तथा घटनाओं से होकर गुजरते हुए भी हमें अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता के बारे में निरन्तर बोध बना रहता है, परन्तु पिछले तथा वर्तमान जन्मों के व्यक्तित्व की अभिन्नता के बारे में तो ऐसा कोई बोध देखने में नहीं आता।"

स्वामीजी – "कुछ विशेष सर्वमान्य साधनाओं के द्वारा हम अपने विभिन्न जन्मों में इस व्यक्तित्व की निरन्तरता का बोध कर सकते हैं। तुम प्रयास करके क्यों नहीं देखते?"

स्वामीजी के पाश्चात्य व्याख्यानों तथा भारतीय शास्त्रों के अंग्रेजी अनुवादों के आधार पर सार रूप में ये ही बातें मैंने भी श्रीनिवास अय्यर को कही थीं। अत: मैं पूर्णत: सन्तुष्ट था। सभा के बाद मुझसे मिलनेवाले कुछ लोगों ने ऐसा मत व्यक्त किया कि स्वामीजी ने प्रश्न को गम्भीरता से नहीं लिया और वे कुशलतापूर्वक उसे टाल गये। मैं बोला कि मुझे तो ये उत्तर अपनी आशा के अनुरूप ही गले। वेदान्त केवल तर्क-विचार नहीं, अपितु एक व्यावहारिक धर्म है। बाद में जब मैं श्रीनिवास अय्यर से मिला और उन्हें सब कुछ बताया, तो वे भी बोले कि उन्होंने एक उचित प्रश्न ही उठाया था, परन्तु स्वामीजी से उसका समुचित उत्तर नहीं मिला। बात को युक्ति तथा उपदेश द्वारा समझाने के स्थान पर यह कहना कि इसके लिये हमें अपनी जीवन-धारा ही बदल देनी होगी, यह कोई उत्तर नहीं हुआ। व्यावहारिक वेदान्ती ही इस बात को ठीक-ठीक समझते हैं और हमने विषय को यहीं समाप्त किया।

दोपहर में लगभग एक बजे ऊपर के केन्द्रीय हॉल में मैं स्वामीजी से पुन: मिला। दर्शनार्थी तब भी पूर्ववत् ही आना-जाना कर रहे थे, परन्तु कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई।

अन्त में मद्रास उच्च न्यायालय के वकील श्री ई. पी. शंकर मेनन आये, जो बाद में त्रिवेन्द्रम उच्च न्यायालय के जज हुए थे। ऐसा लगा मानो ये पहले से ही स्वामीजी को जानते थे। वे और स्वामीजी एक ही सोफे पर बैठे और मैं सामने बैठकर सब देखने लगा। मलाबार के लोग स्पर्शदोष मानने तथा उसके प्रतिकार में जो अति कर देते हैं और राजपथ तथा गलियों में चलते समय अछूतों को दूर रखने के लिए जो शोरगुल मचाते हैं, स्वामीजी ने उन्हीं के विषय में कुछ कहा। सहसा वे मलाबार के जातिभेद तथा विवाह प्रथा का प्रसंग उठाकर कहने लगे कि नायर लोगों को ब्राह्मण कहलाने का पूरा अधिकार है, क्योंकि शताब्दियों या युगों से नम्बूद्री ब्राह्मण नायर महिलाओं के साथ विवाह-सम्बन्ध करते आये हैं। मनुस्मृति का कहना है कि यदि अब्राह्मण लगातार सात पीढ़ियों तक ब्राह्मणों से विवाह-सम्बन्ध रखे, तो वह भी जन्म से ब्राह्मणत्व अर्जित कर लेता है। मनु के विधान का भाव नायर लोग पूरा करते हैं, क्योंकि भले ही बीच में कभी व्यवधान आया हो, परन्तु यदि केरल के इतिहास तथा केरल के समाज पर सर्वांगीण रूप से विचार किया जाय, तो कुल मिलाकर यह निश्चित है कि कम-से-कम सात बार यह विवाह-सम्बन्ध हो ही जाता है।

लगा कि श्री शंकरन् मेनन स्वामीजी की इस सलाह में काफी रुचि लेते हुए सोच रहे हैं कि यह बात व्यावहारिक भी है और यदि सम्भव हो तो इसके लिये प्रयास करके देखा जाना चाहिये। ठीक उसी समय श्री सी. शंकरन् नायर ने हॉल में प्रवेश किया, जो तब तक मद्रास के एक वकील तथा राजनीतिक नेता के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे और बाद में 'सर' की उपाधि से सम्मानित हुए थे। स्वामीजी की ओर अग्रसर होने पर उनका हार्दिक स्वागत हुआ और उन्हें ले जाकर सोफे पर बैठाया गया। श्री शंकरन् मेनन मेरे ही समान एक कुर्सी पर बैठे हुए थे। श्री शंकरन् नायर ने स्वामीजी को बताया कि जब वे लन्दन में थे, तो उनके आवास पर उनसे मिलने गये थे, परन्तु यह ज्ञात होने पर कि स्वामीजी बाहर गये हैं, वे वापस लौट गये। स्वामीजी कुछ बोलने ही वाले थे कि श्री नायर की ओर देखते हुए श्री शंकरन् मेनन सहसा बोल उठे – "स्वामीजी का विचार है कि मनुस्मृति के आधार पर हम सभी नायर लोगों को मिलकर अपने ब्राह्मण होने की घोषणा कर देनी चाहिये। उसमें लिखा है कि शुद्र भी यदि सात पीढ़ियों तक लगातार ब्राह्मण पिता से उत्पन्न हो, तो उसे ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हो जाती है।" श्री नायर ने बात को क्षण भर में समझ लिया, परन्तु मेरे समान एक अपरिचित तथा ब्राह्मण की उपस्थिति में वे इस संवेदनशील सामाजिक विवाद में नहीं पड़ना चाहते थे। वे जानते थे कि यह पूरा विवाद कई प्रकार की भावनाओं की सृष्टि कर सकता है और निश्चित रूप से दीर्घ काल तक याद रखा जायेगा। फिर यदि यह भविष्य में प्रकाशित भी हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं, जैसा कि वर्तमान लेख में श्री शंकरन् नायर के वहाँ पहुँचने के पहले तक का वर्णन हो रहा है। श्री नायर एक बड़े बुद्धिमान व्यक्ति थे और यह सोचकर उन्होंने तत्काल वह विषय छोड़ दिया कि मलाबार (केरल) के हिन्दू समाज के विभिन्न स्तरों के नर-नारियों के बीच उन दिनों प्रचलित सामाजिक तथा वैवाहिक सम्बन्धों को जड़ से काटने के, अति महत्त्वपूर्ण तथा संवेदनशील मुद्दों से जुड़े, दूरगामी प्रभाव के सामाजिक क्रान्ति के विषय में योजना बनाने या चर्चा तक करने का वह कोई उपयुक्त स्थान या अवसर नहीं है। श्री शंकरन् नायर वहाँ कुछ मिनट और ठहरे और उसके बाद श्री शंकरन् मेनन के साथ चले गये।

अगले दिन १३ फरवरी, शनिवार को पचियप्पा हॉल में स्वामीजी ने 'भारतीय जीवन में वेदान्त का प्रभाव' विषय पर व्याख्यान दिया। हॉल पूरी तौर से भरा हुआ था। मैं मंच पर ही बैठा था और मेरी बगल में थे श्री जी. सुब्रह्मण्य अय्यर जो बाद में 'हिन्दू' समाचार-पत्र के सम्पादक हुए। व्याख्यान के दौरान स्वामीजी ने कहा कि केवल 'गीता'-'गीता' की रट लगाने से काम नहीं चलेगा। तुम लोग शारीरिक रूप से दुर्बल हो, परीक्षा पास हेतु मस्तिष्क में किताबें भर-भरकर तुम्हारी ऊर्जा असमय ही क्षीण हो चुकी है। तुम्हारे जैसे लोग गीता को न तो ठीक-ठीक समझ सकते हैं और न ही उसे आचरण में ला सकते हैं। जाकर फुटबाल खेलो, अपनी मांसपेशियों को विकसित करो और मजबूत बनो, तभी तुम गीता के उपदेशों को समझने के काबिल हो सकोगे।" उसी समय श्री जी. सुब्रह्मण्य अय्यर को मौका मिला और स्वामीजी के बैठने के पूर्व ही वे अपने पास के लोगों से तमिल भाषा में बोल उठे – "यही बात मैं कितनी बार कह चुका हूँ, पर किसी ने ध्यान नहीं दिया; अब यही बात स्वामीजी कह रहे हैं, तो आप सभी लोग 'वाह-वाह' कर रहे हैं।"

श्री जी. सुब्रह्मण्य अय्यर पहले बड़े ही रूढ़िवादी थे और वैदिक अनुष्ठानों तथा सदाचार का बड़ी कड़ाई से पालन करते थे। परन्तु अपनी पुत्री के बाल-विधवा हो जाने पर उन्हें गहरा आघात लगा और उनके सामाजिक विचारों में क्रान्तिकारी बदलाव आ गया। अब वे हिन्दू रूढ़िवादिता के साथ अभिन्न रूप से जुड़े उन कष्टों तथा पीड़ाओं को समझ गये थे, जिसे लोग अदम्य बल तथा परम धैर्य के साथ दीर्घ काल से सहते आये हैं और अब भी केवल इसीलिये सह रहे हैं कि ऐसा श्रुति-स्मृतियों का आदेश है और इससे वे अन्ततः आध्यात्मिक धन्यता तथा संसार से मुक्ति का परम आनन्द पा सकेंगे।

स्वामीजी जब 'बल' तथा 'निर्भयता' के बारे में बोलने लगे और बताया कि इनके बिना आध्यात्मिक पूर्णता असम्भव

है, तो इस पर अय्यर महाशय आनन्द-विह्वल हो उठे। उनके शब्द श्रोताओं पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे। वे बोले – "विश्वास करो कि तुम शरीर या मन नहीं, अपितु आत्मा हो; और शक्ति की उपलब्धि तथा उपनिषदों की शिक्षाओं को अपनाने व चरितार्थ करने की दिशा में वही पहला कदम है।" स्वामीजी जाति के महत्त्व तथा उसकी सांगठनिक शक्ति पर भी विस्तार से बोले – जाति एक स्वाभाविक व्यवस्था है, जीवन की समस्या को हल करने के लिये एकमात्र स्वाभाविक व्यवस्था है। इस विषय में बोलते हुए जब स्वामीजी ने यह भी बताया कि जाति केवल भारत में ही नहीं, बल्कि सर्वत्र और उनके देखे हुए प्रत्येक देश में विद्यमान है, तब अय्यर महाशय का उत्साह तथा आनन्द उस समय थोड़ा ठण्डा पड़ गया।

१४ फरवरी, रविवार के दिन स्वामीजी ने 'भारत का भविष्य' विषय पर अपना अन्तिम व्याख्यान दिया। उस दिन के समान भीड़भाड़ तथा श्रोताओं का उत्साह कभी मेरे देखने में नहीं आया था। स्वामीजी की वाग्मिता भी उस दिन चरम सीमा पर थी – वे मंच के एक छोर से दूसरे छोर तक मानो सिंह के समान विचरण कर रहे थे। उनकी गर्जना सर्वत्र प्रतिध्वनित होकर अद्भुत प्रभाव की सृष्टि कर रही थी। उनकी एक उक्ति मैं कभी भूल नहीं सकूँगा, और वह स्वामीजी की दूरदर्शिता एवं सर्वज्ञता की परिचायक थी। उन्होंने कहा था – **"शान्ति, धर्म, भाषा तथा शासन – इन सभी को मिलाकर राष्ट्र का गठन होता है; परन्तु इनमें से कोई एक ही आधारस्वरूप होता है, और बाकी सबका हम उसी के ऊपर निर्माण करते हैं। भारतीय जीवन के लिये धर्म ही मूल सुर है और उसी के आधार पर भारतीय राष्ट्रीयता का गठन हो सकता है।"**

अगले दिन सोमवार १५ फरवरी को (सुबह पाँच बजे) स्वामीजी ने स्टीमर से कोलकाता की ओर प्रस्थान किया।* उनके अनेक अनुरागी, अनुयायी तथा मित्र यान के छूटने के पूर्व उनसे विदा लेने को उनके साथ आए थे। श्री तिलक ने स्वामीजी को पूना आने का आमंत्रण भेजा था और पहले तो उन्होंने वहाँ जाने का ही विचार किया था; परन्तु उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी और वे हिमालय के परिवेश में जाने को व्यग्र हो रहे थे। समुद्र-तट पर आर्य-वैश्य (कोम्टी) जाति के कुछ व्यवसायी उनसे मिले और अपनी पवित्र मातृभूमि के सेवार्थ उन्हें औपचारिक धन्यवाद-पत्र प्रदान किया। राजमन्ड्री के माननीय सुब्बा राव ने उन लोगों की ओर से स्वामीजी को यह मानपत्र सौंपा। स्वामीजी ने सिर झुकाकर उसे स्वीकार किया और प्रीतिपूर्वक उनसे कुछ प्रश्न किए। कुछ लोग स्टीमर में चढ़कर अन्तिम क्षणों तक स्वामीजी के संग में रहे। मैं भी उसी टोली में था और उनके आसपास उपस्थित हममें से प्रत्येक को इन दिव्य महापुरुष से बिछुड़ने की पीड़ा का बोध हो रहा था।

मैंने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे कृपा करके मुझे अकेले में अपने साथ थोड़ी-सी बातें करने का अवसर दें। वे मेरे साथ हो लिए। कुछ कदम आगे बढ़ने के बाद मैंने उनसे दो प्रश्न पूछने की अनुमति माँगी, जो सहज ही मिल गयी। मेरा प्रथम प्रश्न था – "स्वामीजी, मुझे बताइए कि अमेरिकी तथा अन्य पाश्चात्य जड़वादी लोगों के बीच कार्य करके क्या आपने सचमुच ही कुछ स्थायी कल्याण किया है?" उन्होंने उत्तर दिया, 'बहुत तो नहीं, परन्तु मुझे आशा है कि यत्र-तत्र मैंने जो बीज बोये हैं, वे यथासमय विकसित होकर कम-से-कम कुछ लोगों का हित अवश्य कर सकेंगे।" मैंने दूसरा प्रश्न किया – "आपके दक्षिण भारतीय कार्य के सिलसिले में अब हम दुबारा आपको कब अपने बीच देख सकेंगे?" उन्होंने उत्तर दिया – "इस विषय में कोई शंका मत करना। मैं हिमालय में थोड़ा-सा विश्राम लूँगा और उसके बाद एक हिमशिला की भाँति सारे देश पर टूट पड़ूँगा।"

परन्तु ऐसा होनेवाला नहीं था और मैं फिर कभी स्वामीजी को देख नहीं सका। जिन्हें मैं महानतम व्यक्ति तथा युगाचार्य, एक सच्चे महापुरुष और भारत तथा सम्पूर्ण मानवता के लिये आये देवदूत मानता हूँ, मैंने अन्तिम बार उनके अथाह तथा सम्मोहक आँखों और उनके चेहरे की दैवी अग्नि तथा आभा को देखा। स्वामी विवेकानन्द की सदा-सदा के लिये जय हो!

* उनके साथ स्वामी शिवानन्द, स्वामी निरंजनानन्द, सेवियर-दम्पति, गुडविन और 'ब्रह्मवादिन्' एवं 'प्रबुद्ध भारत' के सम्पादकों सहित चार-पाँच दक्षिणी भक्त भी यात्रा कर रहे थे।
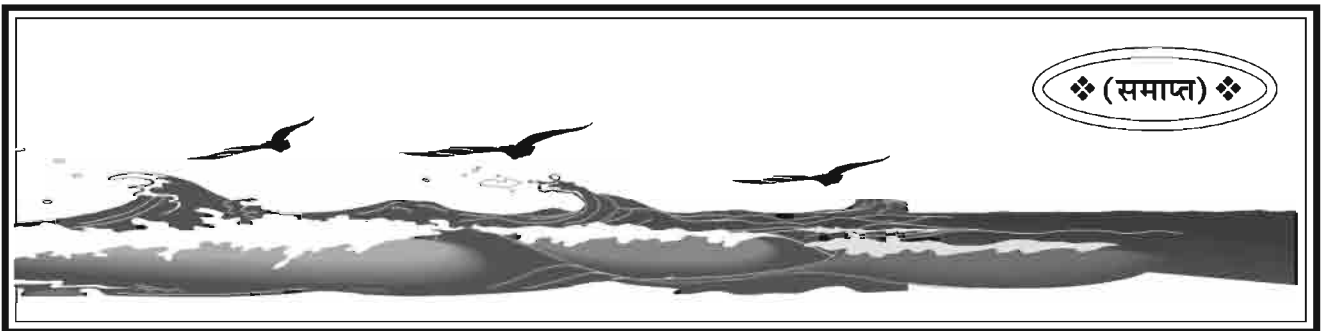
माँ की बातें

स्वामी निर्वाणानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९१२ ई. में मैंने ब्रह्मचारी के रूप में काशी के सेवाश्रम में प्रवेश लिया। उन दिनों वहाँ महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द), महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्द), मास्टर महाशय (श्रीम) निवास कर रहे थे। माँ भी उन दिनों वहाँ लक्ष्मी निवास में थीं। उसी समय एक दिन माँ को पालकी से सेवाश्रम लाया गया। उनके साथ स्वामी शान्तानन्द और चारुबाबू (बाद में स्वामी शुभानन्द) भी थे। माँ एक कुर्सी पर बैठीं। एक भक्त ने पूछा – "माँ, आपने कैसा देखा?" माँ बोलीं – "देखा, ठाकुर ही विराज रहे हैं। रोगियों की साक्षात् नारायण-ज्ञान से सेवा करके लड़के ठाकुर की ही सेवा कर रहे हैं।" माँ की यह बात सुनकर हम लोगों के मन में और भी प्रेरणा जागी। सेवाश्रम में उन दिनों साधु-ब्रह्मचारियों की संख्या कम थी। इनडोर विभाग तथा रोगियों की सेवा का दायित्व मुझे सौंपा गया था। वास्तविक जगत् में नारायण-ज्ञान से सेवा करना बड़ा कठिन है। मैं दो वर्ष सेवाश्रम में था। नारायण-ज्ञान से रोगियों की सेवा करने की हार्दिक चेष्टा की थी। माँ की उक्ति, महाराज का उत्साह, हरि महाराज की प्रेरणा – इन सबके बल पर ही कर सका था।

महाराज काशी में, बागबाजार में और बेलूड़मठ में माँ को प्रणाम करते – यह दृश्य देखने का सौभाग्य मुझे कई बार मिला है। देखता – माँ के सामने जाकर महाराज पूरी तौर से भाव-विह्वल हो जाते, स्थिर खड़े नहीं रह पाते, डगमगाते पैरों तथा थरथराते शरीर के साथ किसी तरह प्रणाम करके चले आते। काशी में और उद्बोधन में कई बार प्रणाम के लिये ऊपर ही नहीं चढ़ पाते, नीचे से ही खड़े होकर हाथ जोड़कर सिर उठाकर माँ को प्रणाम निवेदित करते। बाबूराम महाराज, महापुरुष महाराज आदि ठाकुर के प्रमुख पार्षदों को भी माँ को प्रणाम करते देखा है। उनकी भी लगभग ऐसी ही अवस्था होती, तो भी इतना अधिक नहीं।

१९१४ ई. ब्रह्मचर्य-दीक्षा के बाद मैं माँ का आशीर्वाद लेने उद्बोधन गया। उस समय माँ के कमरे के सामने आज के जैसा इतना बड़ा बरामदा नहीं था। सीढ़ियों से चढ़कर ऊपर जाने पर वहाँ केवल एक चौड़ा बरामदा था। तब नीचे का बरामदा बड़ा था। माँ को प्रणाम करते ही उन्होंने भजन सुनाने को कहा। नीचे के आँगन में दरी बिछाकर मैंने कई भजन गाये। माँ ने प्रसन्न होकर प्रसाद भिजवाया। मठ लौटते समय माँ को प्रणाम करने गया, तो माँ ने सिर पर हाथ रखकर खूब आशीर्वाद दिया।

१९१५ ई. का मार्च-अप्रैल रहा होगा। उन दिनों मैं महाराज की सेवा में बेलूड़ मठ में था। देखा, मेरे हम उम्र कई साधु-ब्रह्मचारी महाराज से अनुमति लेकर तपस्या करने जाते और हिमालय या कहीं अन्यत्र कुछ वर्ष तपस्या करके लौटते। एक दिन मैंने भी महाराज से तपस्या की अनुमति माँगी। उन्होंने तत्काल कहा – "तो फिर तू यहाँ क्या कर रहा है? यह जो सेवा कर रहा है, यह तपस्या से कहीं बढ़कर है। तुझे और कहीं जाने की जरूरत नहीं।" लेकिन इसके बावजूद जब मैं बारम्बार हठ करने लगा, तब उन्होंने मुझे महापुरुष महाराज से अनुमति लेने को कहा। महापुरुष महाराज मेरी बात सुनते ही बोले – "क्या तू पागल हो गया है? तपस्या करने और कहाँ जायेगा? तू जो महाराज की सेवा कर रहा है, यही तो सब कुछ है।" तो भी मैं आग्रह करता रहा। तब वे बोले – "अच्छा, बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) के पास जा। उनसे अनुमति मिलने पर ही जाना।" मैं बाबूराम महाराज के पास गया। मेरा निवेदन सुनकर उन्होंने भी वही उत्तर दिया। पर वे और भी दृढ़ता के साथ बोले – "सुज्जी, क्या तू सचमुच पागल हो गया है? देखता नहीं कि ठाकुर महाराज के अन्दर विराज रहे हैं? और कहीं जाने पर क्या तुझे भगवान के मानसपुत्र का प्रत्यक्ष सान्निध्य मिलेगा?" तो भी मेरे बार-बार हठ करने पर वे बोले – "ठीक है। उद्बोधन में माँ हैं। माँ यदि अनुमति दें, तो जा। पहले कालीघाट जाकर माँ-काली को पूजा देना। फिर माँ से आशीर्वाद लेने जाना। जान लेना, काली घाट में जो हैं और बागबाजार (उद्बोधन) में जो हैं, दोनों एक ही हैं।"

कालीघाट मन्दिर में प्रणाम करके उद्बोधन पहुँचा। देखा

– माँ को प्रणाम करनेवाले दर्शनार्थियों की पंक्ति में मैं आखिरी हूँ। दूर से देखा – माँ मुँह पर घूँघट डाले बैठी हैं और प्रणाम करनेवालों को आशीर्वाद दे रही हैं। अन्त में मेरी बारी आई। तब तक अन्य सभी भक्त जा चुके थे। चरणों में मस्तक रखकर साष्टांग प्रणाम करके जब मैं खड़ा हुआ, तो देखा – माँ ने पूरा घूँघट हटा दिया है। खूब हँसते हुए वे मुझसे बोलीं – "यह मिठाई लो बेटा, खाओ।" स्वयं अपने हाथों से मुझे मिठाई प्रसाद दिया। मैंने माँ को मठ की सारी जानकारी दी। अन्त में अपनी प्रार्थना निवेदित की। सब कुछ सुनकर माँ बोलीं – "बाहर रहकर कठोरता करना ठाकुर पसन्द नहीं करते थे, बेटा! फिर मठ छोड़कर, राखाल को छोड़कर तुम तपस्या करने कहाँ जाओगे? राखाल की सेवा कर रहे हो – उससे ही क्या सब कुछ नहीं हो रहा है?" पर मैं छोटे बच्चे की भाँति उनसे अनुमति तथा आशीर्वाद के लिये जिद करने लगा। मुझे नाछोड़-बन्दा समझकर अन्त में माँ ने कहा – "ठीक है, तुम तपस्या के लिये जा सकते हो – काशी जा सकते हो। पर मुझे एक वचन देना होगा – जान-बूझकर निरर्थक कठोरता मत करना। रास्ते में यदि अयाचित भाव से कोई सहायता मिले, तो ले लोगे। काशी में तपस्या करते समय भी यदि तुम्हें कोई कुछ दे तो उसे भी स्वीकार करोगे। सेवाश्रम में रहोगे और बहुत इच्छा हुई तो बाहर मधुकरी करके खा सकते हो। तुम्हारा काशीवास भी होगा और तपस्या भी होगी।"

मैंने माँ को वचन दिया और उनसे पैदल जाने की अनुमति ली। माँ ने अनुमति तो दिया, पर मुझे लगा कि पैदल काशी जाने की बात उन्हें अच्छी नहीं लगी। इसके बाद माँ को प्रणाम करके, उनका अजस्र आशीर्वाद लेकर मैं खुशी-खुशी मठ लौटा। महाराज, महापुरुष महाराज तथा बाबूराम महाराज को मैंने सब कुछ बताया।

पाँच-छह महीने बाद एक दिन रात के अन्तिम प्रहर में गंगास्नान करके एक छोटी झोली लेकर मैं मठ से काशी के लिये रवाना हुआ। मेरे एक हाथ में लाठी और दूसरे हाथ में कमण्डलु था। उन दिनों ब्रह्मचारी होने के कारण सफेद वस्त्र पहने था। एक वस्त्र को काटकर आधा पहने था, आधा ओढ़े हुए था। ग्रैंडट्रंक रोड पकड़कर मैं अकेले ही पैदल चलने लगा। भादो का महीना था, चलते-चलते मैं समझ गया कि पैदल जाना माँ की इच्छा नहीं है। रास्ते मैं बहुत बीमार और दुर्बल हो गया। करीब दो दिन से पेट में कुछ पड़ा नहीं था। बीच-बीच में माँ के प्रति अभिमान होता। तीसरे दिन सुबह रास्ते में थका हुआ एक बड़े आम के वृक्ष के नीचे पड़ा था। मन-ही-मन सोच रहा था – माँ तुमने आशीर्वाद देकर भेजा, उसका क्या यही फल है?

थोड़ी देर बाद उस वृक्ष के नीचे एक मोटर आकर रुकी। उस गाड़ी से कुछ लोग उतरे और वृक्ष की छाया में बैठकर खाने-पीने लगे। मैं लेटा रहा। वे लोग कौन हैं – यह देखने की इच्छा भी नहीं थी। सहसा एक परिचित पुरुष कण्ठ स्वर सुना – "सुज्जी महाराज न? क्या बात है यहाँ ऐसे?" देखा तो वे मठ के एक परिचित भक्त थे। काशी जा रहा हूँ, सुनकर बोले – "हमारी गाड़ी में चलिये। मधुपुर जा रहे हैं, जितनी दूर हो सका, ले जायेंगे।" मैंने कहा – "धन्यवाद, पर मैंने पैदल जाने का संकल्प लिया है।" उन सज्जन ने अपने साथ लाये भोजन से पराठा, फल, मिठाई देकर पहले मुझे खिलाया। कमण्डलु में पानी भर दिया। मैंने खाया, पर बहुत अनुरोध करने पर भी मैं उनकी गाड़ी में नहीं चढ़ा और न पैसे

पुरखों की थाती

गुणवज्जन-सम्पर्काद् याति स्वल्पोऽपि गौरवम् ।।
पुष्पमालानुषंगेन सूत्रं शिरसि धार्यते ।।

– गुणवान लोगों की संगति से साधारण व्यक्ति भी गौरव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जैसे कि पुष्पमाला का संग करने से उसके साथ धागे को भी सिर पर धारण किया जाता है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः ।।

– चलते हुए व्यक्ति का कभी असावधानीवश पाँव फिसलकर पतन हो जाय, तो दुष्ट लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, पर सज्जन लोग उसे दिलासा दिया करते हैं।

खलो सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनः बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।।

– दूसरों के सरसों के बराबर दोष को भी दुष्ट व्यक्ति देख लेता है, परन्तु स्वयं के बिल्व फल के समान बड़े-बड़े दोषों को देखकर भी अनदेखा कर देता है।

गुणवन्तः क्लिश्यते प्रायेण
भवन्ति निर्गुणा सुखिनः ।
बन्धनम् आयान्ति शुकाः
यथेष्ट-संचारिणः काकाः ।।

– संसार में गुणवान लोग ही प्रायः कष्ट उठाते रहते हैं और गुणहीन लोग सुखी दिखते हैं; जैसे कि अपनी मधुर वाणी के कारण गुणी तोतों को बन्धन में रहना पड़ता है, जबकि गुणहीन कौए स्वच्छन्दतापूर्वक यथेच्छा विचरण करते रहते हैं।

ही लिये। खा-पीकर कुछ देर बाद वे लोग चले गये। मेरी यात्रा फिर शुरू हुई। चल रहा हूँ, तो चला ही जा रहा हूँ। नंगे पैर चलते-चलते पाँवों में छाले पड़ गये थे, शरीर दर्द कर रहा था। दिन में अधिक कष्ट होता था, अत: रात में ही अधिक चलता था। इसी प्रकार और भी तीन दिन बीत गये। इन तीन दिनों के दौरान कुछ अमरूद के अलावा पेट में और कुछ नहीं गया था। मन में आया कि वे लोग अपनी गाड़ी में बैठाकर मुझे आगे छोड़ देना चाहते थे, परन्तु मैंने उनकी बात नहीं सुनी। माँ ने कहा था – "जान-बूझकर व्यर्थ कठोरता मत करना।" भक्त के प्रस्ताव को न मानकर मैंने माँ की बात की अवहेलना की है, शायद इसीलिये यह कष्ट उठाना पड़ रहा है। भिक्षा माँगने जाने पर लोगों की हँसी का पात्र बनना पड़ता है। ब्रह्मचारी का श्वेत वस्त्र भी सम्भवत: भिक्षा न मिलने का एक कारण है। अस्तु। प्रतिदिन करीब २० मील चलता। इसी प्रकार चलते हुए सातवें दिन शाम को मैं बंगाल-बिहार की सीमा पर स्थित एक गाँव में पहुँचा। वह हजारीबाग जिले का एक गाँव था। गाँव का नाम था वीरपुर। पूछताछ करने पर एक शिव-मन्दिर मिला। रात के लिये उसी में आश्रय लिया। पर वहाँ मच्छर बहुत थे। अत: समझ गया कि वहाँ सो पाना असम्भव है। बैठे-बैठे मच्छर भगा रहा था।

तभी एक बार फिर माँ के आशीर्वाद का फल देखने को मिला। रात के लगभग नौ बजे मन्दिर के पुजारी आये। युवक थे। मुझे गौर से देखा। मुझसे कुछ प्रश्न किया। इसके बाद पूजा में बैठे। पूजा समाप्त हो जाने के बाद वे मुझसे बोले – "मेरे साथ घर में चलिये। यहाँ रात में भालू तथा अन्य जावनर भी आते हैं।" मैं मना करने जा रहा था, पर माँ की बात याद आयी – "जान-बूझकर निरर्थक कठोरता मत करना।" अत: मैं चुपचाप उनके पीछे चल पड़ा। पुजारी के साथ उनके घर पहुँचा। अच्छा सम्पन्न परिवार था। पुजारी की वृद्ध विधवा माँ मुझे देखकर बड़ी आनन्दित हुईं। जप आदि करने के लिये वृद्धा मुझे अपने मन्दिर में ले गईं। मन्दिर में जाकर मैं चौंक उठा। देखा कि अन्य देवी-देवताओं के बीच भगवान श्रीरामकृष्ण का छायाचित्र भी विराजमान है। मैं भाव-विभोर हो उठा। अनजाने ही मेरी आँखें छलछला आयीं। बंगाल-बिहार की सीमा पर स्थित इस सुदूर ग्राम में वे कैसे चले आये? मन में जो आनन्द तथा विश्वास हुआ, उसे कहकर नहीं बताया जा सकता। वृद्धा के स्नेह-यत्न के कारण तीन रात वहीं रुका रहा। उन्होंने अपने हाथों से खिचड़ी, मालपुआ तथा और भी न जाने क्या-क्या बनाकर मुझे खिलाया। पाँव के छालों पर मलहम भी लगा दिया। पाँव के मचक जाने के कारण पीड़ा हो रही थी, उन्होंने उस पर हल्दी-चूने का लेप लगाया।

तीन दिन बाद लगा कि अब मैं पूरा स्वस्थ हो गया हूँ। और फिर से अपनी यात्रा आरम्भ कर सकता हूँ। परन्तु वृद्धा बोलीं – "नहीं बेटा, तुम अब भी दुर्बल हो। अकेले इतना रास्ता चलते हुए काशी पहुँचकर तुम तपस्या नहीं कर सकोगे। यह रहा तुम्हारा ट्रेन का टिकट। तुम ट्रेन से जाओगे।" माँ की बात याद हो आयी, अत: इस बार भी मना नहीं कर सका। उन लोगों ने ही मुझे पास के एक स्टेशन में ले जाकर ट्रेन में बिठा दिया।

उनके पूजाघर में जो ठाकुर का चित्र था, उसका इतिहास मैंने उन वृद्धा और लड़के से सुना। लड़का एक बार घूमने काशी गया। वहाँ एक होम्योपैथी की दुकान पर कैलेंडर में ठाकुर का चित्र देखकर उसे खरीद ला आया। दुकान पर ही पूछने से पता चला कि चित्र श्रीरामकृष्ण का है – "रामकिसन (रामकृष्ण) कोई बंगाली अवतार होंगे।" माँ और पुत्र – दोनों बोले – "लेकिन यह चित्र घर में आने के बाद से सब कुछ अच्छा चल रहा है।" "उसने यह चित्र खरीदा क्यों?" – पूछने पर लड़के ने बताया– "रामकृष्ण के दोनों नेत्रों में मानो एक जादू है। इन नेत्रों ने मुझे बाँध लिया। इसीलिये मैंने कैलेंडर खरीदा था। बाद में उसे फ्रेम में मढ़वा लिया।"

अस्तु, मैं ट्रेन से काशी पहुँचा। वृद्धा और उसके लड़के मुझे कुछ दिन और अपने घर रखना चाहते थे। पर मैंने उन्हें

समझा-बुझाकर आखिरकार राजी किया और चौथे दिन उनकी अनिच्छा के बावजूद मैंने विदा ली। काशी पहुँचने पर किसी प्रकार की असुविधा नहीं हुई। मैंने स्पष्ट महसूस किया कि मठ से निकलने के बाद माँ सदैव मेरे साथ ही थीं।

माँ ने कहा था – "सेवाश्रम में रहोगे, और बहुत इच्छा होने पर बाहर माधुकरी करके खा लेना।" लेकिन तपस्या की प्रबल प्रेरणा से मैंने निश्चय किया कि जितने दिन तपस्या करूँगा, बाहर ही रहूँगा। सेवाश्रम में रहने पर निवास-स्थान की निश्चिन्तता रहने से तपस्या में क्षति होगी। इसलिये बाहर रहूँगा और भिक्षाटन करके खाऊँगा। गंगा के तट पर एक पुराने बगीचे में स्थान मिल गया और केवल भिक्षा पर निर्भर रहकर ध्यान जप करते हुए मैं तपस्या में दिन बिताने लगा। मैं जहाँ रहता था, वह स्थान बिल्कुल भी स्वास्थकर न था। तरह-तरह के कीड़े-मकोड़ों और मच्छरों के उपद्रव से परेशान होना पड़ा। अब समझ में आया कि माँ ने क्यों कहा था कि सेवाश्रम में रहना और 'बहुत इच्छा हुई तो' माधुकरी करके खाना। उत्तर भारतीय माधुकरी की दाल-रोटी मुझे सहन नहीं हुई। शीघ्र ही मुझे बड़ी दुर्बलता का बोध होने लगा। लगा कि मन का उत्साह घटता जा रहा है। मन में उद्दीपना लाने हेतु मैं पूज्यपाद लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) के पास गया। उन दिनों वे वहाँ गंगा किनारे एक घाट पर रहते थे।

मुझे देख वे परम स्नेहपूर्वक बोले, "सुज्जी, तुम्हें क्या हुआ है? इतने दुर्बल दीख रहे हो? लगता है, तुम्हें भिक्षाटन सहन नहीं हो रहा है। ठीक है, तुम ये दो रुपये रखो – मास्टर महाशय मुझे हर महीने दूध पीने के लिये देते हैं। ये दो रुपये तुम रखो। आज से प्रतिदिन तुम इन पैसों से दूध खरीद कर पीना।" परन्तु वे स्वयं भी तो बड़ी कठोरतापूर्वक रहते थे। उनसे पैसे लेते हुये मुझे खूब संकोच लग रहा था। मगर माँ की बात याद आयी – "जान-बूझकर निरर्थक कठोरता मत करना।" अत: विवश होकर मैंने पैसे ले लिये। उनका प्रेम देखकर मेरी आँखें नम हो गयीं।

मेरा स्वास्थ्य सुधरने के स्थान पर और भी बिगड़ गया। आँव के लक्षण प्रगट हुए। भिक्षाटन करके खाने के कारण पेचिस क्रमश: बढ़ता ही गया। एक दिन मेरी तबीयत बहुत खराब हो गयी। उसी बगीचे में अकेला पड़ा था, कुछ खा नहीं पा रहा था – बार-बार शौच जाता। सहसा आहट हुई, मानो कोई आया हो। उस बगीचे की स्वामिनी – एक महिला मेरे कमरे में आयीं। कई वर्षों बाद वे अपना बगीचा देखने आयी थीं। मुझे उस हालत में देखते ही उन्होंने सब समझ लिया। सम्भव है कि बगीचे के चौकीदार से भी उन्हें मेरे बारे में कुछ जानकारी मिली हो। उन्होंने तत्काल ही उसे मेरे लिये अच्छे कमरे की व्यवस्था करने को कहा और बोल गयीं कि मेरे पथ्य के लिये सब्जी, भात, दूध, आदि जिस किसी चीज की जरूरत हो, उसकी व्यवस्था कर देना। इस बार भी मैं मना करने जा रहा था, पर माँ की बात याद करके सब मान लेना पड़ा। मुझे लगा, मानो माँ स्वयं ही उनके माध्यम से आकर मेरे खाने-पीने तथा रहने की सारी व्यवस्था कर गयीं।

कुछ दिनों के भीतर ही मैं स्वस्थ हो उठा। तब मेरी समझ में आया कि मैं यहाँ तपस्या करने की जगह दूसरे की सेवा ले रहा हूँ। माँ के निर्देश का स्मरण करके मैं सेवाश्रम चला गया। इसी तरह छह-सात महीने बीत गये। मेरा जो थोड़ा-बहुत सामान था, उसे समेटकर कुछ ही दिनों में मैं लौट आया। महाराज एक पिता की भाँति उत्कण्ठित हृदय से मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मैं उनके चरणों में गिर पड़ा। मठ छोड़कर तपस्या करने की इच्छा का वहीं अन्त हुआ।

मठ लौटकर मैं पुन: महाराज की सेवा में लग गया। महापुरुष महाराज, बाबूराम महाराज भी मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन लोगों का वह जो स्नेह था, उसे कहकर समझाया नहीं जा सकता! माँ उस समय गाँव में थीं। मैंने माँ को मठ से सारा समाचार एक पत्र में लिखा। मेरी तपस्या करने की साध मिट चुकी है और मैं स्वस्थ शरीर लेकर मठ लौटा हूँ – यह जानकर माँ ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए आशीर्वाद भेजा। उन्होंने लिखा था – "बेटा, तपस्या तो बहुत कर आये, अब जी-जान से राखाल की सेवा में लग जाओ। राखाल की सेवा करने से ही तुम्हारा सब कुछ हो जायेगा। जान लेना कि इससे बड़ी तपस्या और कुछ नहीं है।" उस बार माँ के गाँव से लौटने पर उद्बोधन जाकर उनके चरणों का दर्शन कर आया। उन्होंने आशीर्वाद दिया। उस बार दुर्गा-पूजा के समय माँ मठ में आयीं और पूजा के कुछ दिन वहीं निवास किया। पूजा के समय घनघोर वर्षा हुई थी, पर 'जीवन्त दुर्गा' की उपस्थिति में पूजा निर्विघ्न सम्पन्न हुई थी।

एक बार मेरी कालीघाट जाकर माँ-काली के दर्शन करने की इच्छा हुई। बाबूराम महाराज को बताने पर वे बोले – "उद्बोधन जाकर माँ का दर्शन करना, वे ही साक्षात् काली हैं। वहाँ से होकर तब कालीघाट जाना।" बागबाजार में माँ के घर जाकर मैंने उन्हें प्रणाम करके बाबूराम महाराज की बात बतायी। सुनकर माँ थोड़ा हँसीं। माँ की उस हँसी में मैंने जो कुछ देखा, वह अब भी आँखों के सामने तैर रहा है। उनका वह दिव्य रूप कहकर नहीं बताया जा सकता। इसके बाद माँ बोलीं – "बाबूराम ने ठीक नहीं कहा है, बेटा।"*

(संग्राहक : स्वामी प्रभाकरानन्द)

* इस लेखमाला के शुरू में स्वामी निर्वाणानन्द की स्मृतिकथा छप चुकी थी। कभी पूज्यपाद स्वामी निर्वाणानन्द जी के सेवक रहे स्वामी प्रभाकरानन्द द्वारा संग्रहीत इस स्मृतिकथा में कुछ नये तथ्य भी हैं।

दैवी सम्पदाएँ (११) सत्य

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

सत्य ग्यारहवीं दैवी सम्पत्ति है। यह महत्तम जीवन-मूल्यों में एक है। महापुरुषों, महर्षियों तथा देवदूतों ने सत्य की खोज तथा साधना में अपना पूरा जीवन अर्पित किया, सत्य की रक्षा हेतु सत्याचार करते हुए अनेक यातनाएँ झेलीं और प्राणों तक का बलिदान किया। मानव-समाज उनके प्रति श्रद्धावनत है। उसकी यह श्रद्धा अन्धभक्ति के चलते नहीं, अपितु सामाजिक आकांक्षा का विवेकपूर्ण प्रतीक है। इसीलिये हर धर्म में सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है और हर विचारक ने सत्य पर अपने विचार-बिन्दुओं के निष्यन्दन से ही पूर्णत्व की अनुभूति की है। महर्षि मनु के द्वारा निरूपित धर्म के दस लक्षणों में सत्य परिगणित है और जैनमत के भी दस-लक्षण -धर्म में 'उत्तम सत्य' का खास महत्त्व है।[१] पाश्चात्य चिन्तकों ने भी 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के सत्य पर चिन्तन किया है। तात्त्विकों एवं व्यवहार -वादियों, भले ही वे उसके स्वरूप में सहमत न हों, दोनों ने ही सत्य को एकमतेन स्वीकार किया है।

सत्य क्या है? इसकी परिभाषा क्या है? इसका स्वरूप क्या है? इन पर विचार करते हुए इसकी कोई एक परिभाषा और सर्वमान्य स्वरूप भी सुस्थिर नहीं होता। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं –

(१) **यथार्थ-भाषणं सत्यम्** – यथावत् बोलना सत्य है। अर्थात् जैसा देखा-सुना, वैसा ही कह देना सत्य है।

(२) **ऋषीणां चरितं सत्यम्** – प्रश्नोपनिषद् में ऋषियों के चरित को सत्य निरूपित किया गया है। ऋषियों ने जिस प्रकार का जीवन जिया, त्याग और तपस्या के जो मानदण्ड स्थापित किये, वही सत्य है।

(३) **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** – सत्य ज्ञानरूप, अनन्त और ब्रह्मरूप है। यह गुहा में निहित अर्थात् रहस्यमय व गूढ़ है।

(४) महाभारत के अनुसार – (अ) **सत्यं ब्रह्म सनातनम्** – सत्य सनातन ब्रह्म है। और (ब) जिससे प्राणियों का हित होता है, मेरे मत में वही सत्य है – **सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्। यद्भूतहितम् अत्यन्तम् एतत्सत्यं मतं मम।।** (शान्तिपर्व, ३२९/१७)

(५) शंकराचार्य – (अ) **सत्यम् अप्रियानृतवर्जितं यथा-भूतार्थवचनम्** – अप्रिय और मिथ्या को छोड़कर जो कुछ घटा उसे ज्यों-का-त्यों कह देना सत्य है।'' (ब) **यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्** – अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, उसके समभाव से विद्यमान रहने पर उसे सत्य कहेंगे।

(६) वेदान्त-दर्शन – **त्रिकाल बाधा राहित्यं सत्यम्** – जो भूत, भविष्य और वर्तमान की बाधाओं से रहित है, वह सत्य है अर्थात् सत्य दिक्काल परिणामी नहीं है।

(७) सन्त ज्ञानेश्वर – ''जैसे अपराध के समय माता का स्वरूप ऊपर से क्रोधयुक्त और लालन करने में पुष्पवत् कोमल होता है, वैसे ही जो सुनने में सुखदायक और परिणाम में यथार्थ होता है, उस विकाररहित भाषा को सत्य कहते हैं।''

(८) महात्मा गाँधी – ''सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है अस्ति, सत्य अर्थात् अस्तित्व सत्य के बिना दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है, इसलिये 'परमेश्वर सत्य है' – कहने की अपेक्षा 'सत्य ही परमेश्वर है' – कहना अधिक उचित है। साधारणत: सत्य का अर्थ सच बोलना मात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थ में सत्य शब्द का प्रयोग किया है; विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है।''

ऋत और सत्य – आज ऋत और सत्य दोनों समानार्थी हैं, पर वैदिक काल में इनका बोध भिन्न था। ऋत का तात्पर्य था प्रकृति व्यवस्था, प्रकृति के नियम और नैतिक अनुशासन। सूर्य का पूर्व दिशा में उगना, चन्द्रमा का रात्रि में निकलना, समय पर ऋतुओं का परिवर्तन और वायु का निरन्तर संचरण ऋत से ही अनुशासित है। अग्नि ऋत की गोपा – संरक्षिका

१. (अ) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्।।

(ब) उत्तम क्षमामार्दवार्जवशौच-सत्यसंयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः। (मोक्षशास्त्र, तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वामीकृत, ९/६)

है; क्योंकि यज्ञ का नियमित संचरित होना अग्नि पर ही निर्भर है। वरुण भी ऋत के संरक्षक हैं, क्योंकि नैतिक नियमों के अनुशास्ता वे ही हैं। ऋत सत्य और अविनाशी सत्ता है। इस जगत् में ऋत के कारण ही सत्य की उत्पत्ति होती है। (ऋ. वे. ३/५५/५)। सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ऋत ही उत्पन्न हुआ। देवतागण ऋत के स्वरूप हैं। सोम ऋतजात हैं। सूर्य ऋत का विस्तार करते हैं। नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं – **ऋतमर्पन्ति सिन्धवः**। (ऋ.वे. १.१०.१५)। उषा ऋत की देवी (ऋतस्य देवी) और ऋतजात सत्या है। सत्य सामाजिक व्यवस्था है अर्थात् सत्य ही समाज को नियमित, अनुशासित और व्यवस्था-बद्ध करने वाला तत्त्व है।

सत्य अनेक रूपात्मक है। उसके जितने भी रूप हैं, हमें सब स्वीकार्य हैं। वे हमारी साधना के साध्य-बिन्दु हैं। भीष्म ने समता, दम, ईर्ष्याहीनता, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, अनुसूया, त्याग, ध्यान, श्रेष्ठता, धैर्य, दया तथा अहिंसा इन तेरह गुणों को सत्य के विविध रूप कहा है। (महा. शान्ति., १६२/८/९१) भारतीय चेतना ने सत्य को जीवन के विभिन्न सन्दर्भों में परखा है और सत्यमय जीवन की प्रासंगिकता निरूपित की है। दैवी सम्पत्तियाँ भी सत्य की ही झाँकियाँ हैं। वे उसके विविध आयाम हैं और प्रत्येक में सत्य प्रतिष्ठित है। वे जीवन की साधना-श्रेणियाँ हैं, जिनका आधार सत्य है।

सत्यं वद – वेद ने सत्य बोलने का आदेश दिया है, लेकिन साथ यह परन्तुक भी जोड़ा है कि वह प्रिय हो; अप्रिय सत्य कदापि न बोला जाय। **सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यम्-अप्रियम्** – प्रिय बोलने में भी असत्य भाषण न हो। सत्य भाषण बड़ा कठिन है। भौतिक वस्तुओं का लोभ अथवा राग-द्वेष के भावों का हल्का-सा भी झोंका हमें सत्य के मार्ग से डिगा देता है। अब न्यायालयों में रोज सत्य का चीरहरण होता है। व्यापारिक, कार्मिक एवं धार्मिक संस्थानों में सत्य के सिर पर रोज आरा चलता है। हम सब हिरण्याक्ष बनकर हिरण्य अर्थात् सोने की लालसा में सत्य की धरा को रसातल में ले जाने का प्रयास करते हैं, हिरण्यकशिपु की भूमिका में सत्य के प्रह्लाद को आग में झोंक रहे हैं। हमें सत्य दिखाई कहाँ देता है? वह तो ढँका होता है। सोने का ढक्कन उसे चारों ओर से आच्छादित कर लेता है। उसे उघाड़ना होता है, लोभ का कंचुक उतारना पड़ता है। राग-द्वेष के झूले को मन की डाल से खींचना पड़ता है, तभी सत्य का दर्शन होता है। वैदिक ऋषि इसे भलीभाँति समझते थे। उन्होंने मानव-मन की कमजोरी का एहसास किया था। अत: उन्होंने भगवान पूषा से प्रार्थना की थी – हे पूषन्, आप सत्य के मुख पर लगे सोने के ढक्कन को हटा दें, ताकि हम मानवीय सम्बन्धों को सत्य के प्रकाश को देख सकें। उनका दर्शन तथा अनुभूति कर सकें –

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

सत्य की महिमा – सत्य की महिमा अपार है। सत्य से बढ़कर धर्म नहीं है और असत्य से बड़ा पाप नहीं। सत्य परम ज्ञान है। इसलिये सत्य का आचरण करना चाहिये –

न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
न हि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्।।

सत्य के कारण ही पृथ्वी में धारणा शक्ति है, सूर्य तपता है और वायु चलती है। सत्य सर्वाधार है –

सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपसे रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

धर्म, तप, योग, सनातन ब्रह्म आदि सभी सत्यमय हैं –

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

महाभारत के अनुशासन पर्व में है – देवता, पितर और ब्राह्मण सत्य से ही प्रसन्न होते हैं। सत्य ही परम धर्म माना गया है, अत: सत्य का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये –

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लंघयेत्।।

ऋषि, मुनि सत्य-परायण, सत्य-पराक्रमी और सत्यप्रिय होते हैं। इसलिये सत्य सबसे श्रेष्ठ है –

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात् सत्यं विशिष्यते।।

मुण्डकोपनिषद् का एक मंत्र कहता है कि यह आत्मा सत्य और तपस्या के द्वारा पायी जा सकती है। सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य की साधना से क्षीण-दोषों-वाले योगी ही अपने शरीर में रहनेवाली ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा को देखते हैं –

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

मनु के सामाजिक धर्म में भी सत्य समाविष्ट है –

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामाजिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।।

मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने सत्य के समान दूसरा धर्म ही नहीं बताया –

धरमु न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना।।

महाभारत (शान्ति., अ. २५९) में भीष्मदेव ने धर्म के लक्षणों की व्याख्या करते हुए युधिष्ठिर को सत्य की महत्ता समझाते हुए कहा है – "सत्य बोलना सर्वोत्कृष्ट है। सत्य से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं। सत्य ने ही पूरे विश्व को धारण किया है, सत्य ही सबका आधार है। अति पापकर्मा भयंकर

लोग भी यदि परस्पर शपथपूर्वक सत्य का व्यवहार करें, तो उसके आश्रय से द्रोह तथा प्रतारणा के बिना उनके व्यवहार चलते हैं, किन्तु यदि वे इस शपथ का पालन न करें तो नि:सन्देह उनका नाश होता है –

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ।।

सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई मुक्तिदाता नहीं है। इससे आत्म-विश्वास और आत्म-बल की वृद्धि होती है। सत्य का बल सर्वाधिक है। इससे आततायी शक्तियाँ कम्पित हुई हैं। उन्हें पराजय को स्वीकार करना पड़ा है। वही ईश्वरीय शक्ति है। संसार में सत्य ही ईश्वर है और धर्म सत्य के सहारे रहता है। सबका मूल सत्य है। सत्य से बड़ा कोई परमपद नहीं –

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ।।

तराजू के एक पलड़े पर हजारों अश्वमेध यज्ञ रखे गये और दूसरे पर एकमात्र सत्य को। सत्य सबसे भारी रहा –

अश्वमेध सहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध सहस्राणि सत्यमेवातिरिच्यते ।।

सत्य के बराबर तप और झूठ के समान पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य है, उसके भीतर ईश्वर का निवास है –

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदै साँच है, ताके हिरदै आप ।।

विजय सत्य की होती है, झूठ की नहीं। देवताओं का मार्ग सत्य के कारण ही विस्तृत है – **सत्यमेव जयते नानृतम्, सत्येन पन्था विततो देवयानः ।**

सत्य और बौद्धधर्म – बौद्ध धर्म की मूल भित्ति है चार आर्यसत्य – (१) जीवन दु:खमय है। (२) दु:ख का कारण तृष्णा है। (३) तृष्णा का निरोध दु:ख के नाश का उपाय है। (४) तृष्णा निरोध का मार्ग है मध्यमा प्रतिपत्। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि – मध्यमार्ग की ये आठ साधना-कोटियाँ हैं। जिनसे आर्यसत्यों की प्राप्ति हो सकती है। संसार में पूर्ण सत्य कुछ नहीं है। इसके अनेक रूप हैं, किसी एक को ही पूर्ण मानकर बहस करनेवाले उन अन्धों के समान हैं, जिनमें से किसी ने हाथी की पूँछ, किसी ने कान, किसी ने पैर और किसी ने सूँड़ का स्पर्श किया है और उसी को पूरा हाथी मानकर आपस में लड़-भिड़ रहे हैं। भगवान बुद्ध ने कहा था – पवित्र जीवन जीने तथा निर्वाण प्राप्ति के लिये जगत् की नित्यता या अनित्यता जानना अनावश्यक है। उन्होंने कहा था, "सत्य पर विश्वास रखो, सत्य पर श्रद्धा रखो और सत्यमय जीवन जियो।"

बाइबिल के वचन – "हे परमेश्वर, तेरे तम्बू में कौन रहेगा? तेरे पवित्र पर्वत पर कौन बसने पायेगा? वही जो खराई से चलता है, धर्म के काम करता है और हृदय से सच बोलता है।" ... "जो सच बोलता है, वह धर्म प्रकट करता है, परन्तु जो झूठी साक्षी देता है वह छल प्रकट करता है।" ... "सच्चाई सदा बनी रहेगी, परन्तु झूठ पल भर का ही होता है।" ... "झूठे से यहोवा को घृणा है।"

सत्यविषयक पाश्चात्य चिन्तन दृष्टि – पाश्चात्य चिन्तकों में प्रकृतिवादी आदर्शवादी, अनुभववादी और व्यवहारवादी आदि वर्ग हैं। उन्होंने सत्यान्वेषण किया है, परन्तु उसकी सीमा पदार्थाश्रित तर्कवाद तक ही रही। प्रकृतिवादी पुद्गल को ही सत्य मानते हैं। प्रत्ययवादी-आदर्शवादी दार्शनिक विचार-प्रत्यय को सत्य निरूपित करते हैं। सांसारिक वस्तुओं को हम इसलिये पहचानते हैं कि हमारे मस्तिष्क में उनका प्रत्यय है। जैसा हमारे भीतर है, उसी के अनुरूप हम बाहर देखते हैं। अनुभववादी प्रत्यक्ष को ही सत्य मानते हैं। अनुभव की कसौटी पर जो खरा उतरे वही सत्य है। वर्कले महोदय ने फाँसी का अनुभव प्राप्त करने के लिये अपने ही गले में फन्दा डाल लिया था। यदि उनके मित्र ने फन्दा खोला नहीं होता, तो उनकी मृत्यु हो जाती। जब फन्दा खुला, तब वे बेहोश थे। वर्कले के अनुसार – भौतिक नाम की कोई सत्ता ही नहीं है, जिन्हें हम पदार्थ या वस्तु कहते हैं, वे हमारे मन के विचार या प्रत्ययमात्र हैं और ये ही एकमात्र सत्य हैं। डेविड ह्यूम के अनुसार – मन प्रत्ययों की अविरल धारा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। व्यवहारवादी जेम्स कहता है – सत्य ऐसी चीज नहीं है, जिसे हम बाह्य संसार में खोजते फिरें। सत्य प्रत्यय या विचार कोई स्थिर सम्पत्ति नहीं। सत्य घटनाओं के द्वारा व्यवहार में प्रकट होता है। मनुष्य स्वयं सत्य की रचना करता है। स्वास्थ्य, समृद्धि और शक्ति के समान सत्य भी निर्मित होता है। इसकी उत्पत्ति मनुष्य के उद्देश्य और संसार के बीच समंजन के प्रयत्न से हुई है। इसकी कसौटी उपयोगिता है। सत्य वही है, जो मानव-जीवन की हर परिस्थिति में उपयोगी हो। यह सदा परिवर्तनशील है। वैज्ञानिक सत्यों में भी परिवर्तन होता है। शिलर ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि गणित के सत्य भी सापेक्ष हैं। निरपेक्ष सत्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। सभी सत्य केवल सम्भाव्य हैं, प्रतीति मात्र हैं। जॉन डिवी का कथन है कि चिन्तन करने में मनुष्य कोई खोज नहीं करता; क्योंकि सत्य न तो बुद्धि में स्थित है और न बाह्य किसी वस्तु में। सत्य का तो निर्माण होता है और यह निर्माण अपनी परिस्थिति तथा पर्यावरण का परीक्षण करते हुए हमारी बुद्धि करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिम का यह चिन्तन न तो अतीन्द्रिय है और न प्रत्यक्ष से आगे बढ़ा है। जबकि भारतीय मनीषा प्रत्यक्ष इन्द्रिय-ज्ञान की सीमाओं को लाँघकर अतीन्द्रिय अनुभव तक पहुँची है।

सत्य और वेदानुपथी चिन्तन – पश्चिम की प्रवृत्ति सत्य की अनुभूति नहीं, अपितु वस्तुओं के विचारात्मक चिन्तन की रही है। यह सौभाग्य इस देश को ही मिला है कि इतिहास के आरम्भिक काल से ही यहाँ पूर्ण स्वाधीनता के साथ सत्य की खोज तथा अनुभूति की गयी। उपनिषद् युग में ऋषि वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता से सत्य को जानने की इच्छा प्रकट की। ऋषि ने अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द के विषय में शिक्षा दी। सत्य का एक सीधा मार्ग भी निर्दिष्ट कर दिया कि आप्तकाम जिससे गमन करे, तू उसी का अनुगमन कर। तू उस सत्य तक पहुँच जायेगा, जो सत्यरूप परब्रह्म परमात्मा का परमधाम है – **येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।**

प्रश्नोपनिषद में कहा है – यह आत्मा सत्य से ही प्राप्त होती है – **सत्येन लभ्यः एष आत्मा** (३.५)। वही यह सत्य है, वह अमृत है, हे सोम्य, उस भेदनेयोग्य लक्ष्य को तू भेद – **तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि।** (मु. २/२)

औपनिषदिक चिन्तन की शृंखला में आचार्य शंकर ने यह घोषणा की कि सत्य तो एकमात्र ब्रह्म है, यह दृश्यमान जगत् तो मिथ्या है – **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**। इस भौतिक जगत् की सत्ता न पहले थी और न बाद में रहेगी। यह परिणामी तथा नाशवान है। असत्य है। माया है। इसकी सत्ता ठीक वैसे ही है, जैसे सीपी में मोती या रस्सी में सर्प। यह प्रातिभासिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक हमारा व्यवहार इसे सत्य मानकर ही होता है। यह जगत् व्यावहारिक रूप में ही सत्य है। जैसे स्वप्न में कोई राजा हो जाता है और राजा के समान ही आचरण करता है। अभिनय में राजा की भूमिका निभानेवाले को समस्त दर्शक राजा ही मानकर व्यवहार करते हैं और वह स्वयं भी अपने को राजा मानकर उसी के अनुरूप अभिनय करता है। यही स्थिति व्यक्ति की इस संसार में है। उसके समस्त जागतिक सम्बन्ध व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं।

महर्षि अरविन्द कहते हैं – जब यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक जगत् ब्रह्ममय है – **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**, तो फिर उसकी अभिव्यक्ति-स्वरूप यह भौतिक जगत् मिथ्या कैसे हो सकता है? यह भी सत्य है। असत् भी चेतना का वह क्षेत्र है, जिसके बारे में भी हमारी बुद्धि 'नेति-नेति' कह सकती है।

वैष्णव-दर्शनों में भी जगत् की स्थिति के विषय में चिन्तन हुआ है और उसे सत्य, असत्य, सत्यासत्य के रूप में निरूपित किया गया है। महात्मा तुलसीदास ने कहा था कि यह सब व्यर्थ का पचड़ा है। इससे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। जो इन तीनों प्रकार के भ्रमों को छोड़ा देगा, वही स्वयं को पहचान सकेगा –

कोऊ कह सत्य, झूठ कह कोऊ,
युगल प्रबल कोऊ मानै,
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम,
सो आपन पहचानै।''

गीता में अक्षर अविनाशी तत्व ही सत्य है। क्षर तत्व असत्य है। अक्षर सत्य से श्रेष्ठ सत्य और है जो पुरूषोत्तम रूप परम सत्य है।

सत्य पारसमणि और कामधेनु है। इसकी आराधना भक्ति है और भक्ति हथेली पर सिर रखकर चलने का सौदा है। इसमें कायरता की गुंजाइस नहीं है। हार नाम की चीज भी नहीं है। मरकर जीने का मंत्र है। पर इसे पाया कैसे जाय? भगवान ने इसका उत्तर दिया। इसे अभ्यास तथा वैराग्य से प्राप्त किया जा सकता है। सत्य का ही सतत चिन्तन अभ्यास है। इसके सिवा अन्य सब वस्तुओं के प्रति परम उदासीनता को वैराग्य कहते है। ''सत्यशोधक निरन्तर सत्य की शोध में लगा रहता है। वह किसी विचार पर हठपूर्वक अड़ा नहीं रहता। निर्भीकता, सत्त्वशुद्धि, व्याकुलता, जिज्ञासा, शोध-बुद्धि, धैर्य, श्रमशीलता, निष्कामता, अनासक्ति, कृतज्ञता, धर्म-परायणता, सर्व-प्राणि-समभाव, विनम्रता और परमात्मा के प्रति अनन्य अनुराग उसके आवश्यक गुण हैं। सत्यशोधक का विषय शास्त्र नहीं, घट-घट-वासी आत्मा है, कण-कण में व्याप्त परमात्मा है।'' वही सत्-सत्यरूप, चिदात्मक, आनन्दमूर्ति तथा आनन्द का उत्स है।

हमारे धर्मग्रन्थों में सत्य-व्रती महापुरुषों के अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। राजा हरिश्चन्द्र की कथा तो इतनी अद्भुत है कि युगों-युगों तक समाज उससे प्रेरणा ग्रहण करेगा। महती श्रद्धा के साथ घर-घर में सुनी जानेवाली भगवान सत्य-नारायण की व्रतकथा इस बात का प्रमाण है कि हमें सत्य की कितनी आकांक्षा और उसके प्रति कितनी निष्ठा है? प्रभु सत्य-नारायण, सत्यदेव, सत्यात्मक और सत्य के भी सत्य हैं। हम उनकी शरण में हैं –

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यम् ऋतसत्यनेत्रं
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।।

(श्रीमद्भागवत १०.२.२६)

हे परमात्मा, तू सत्य-स्वरूप है, हममें सत्य की स्थापना कर – **सत्यम् असि सत्यं मयि धेहि**, ताकि हम सत्य से अनुप्राणित दैवी-सम्पत्तियों को प्राप्त कर सत्य-मानव कहलाने के अधिकारी बन सकें। ❖ **(क्रमशः)** ❖

रूप नहीं, गुणों को सँवारिये

जियाउर रहमान जाफरी

सदियों से भारतीय संस्कृति में गुणों की पूजा होती रही है और मानव का नख-शिख सौंदर्य कविताओं के उपजीव्य रहे हैं। किसी व्यक्ति को महान् होने की संज्ञा तभी दी गई, जब उनके कार्य वैसे हुए, न कि इसलिये कि उनके चेहरे मोहक थे, वजन आदर्श-भार के अनुरूप था, या देह-रचना आकर्षित करने वाली थी। मनुष्य अपने गुण के कारण ही लोकप्रिय होता है। उसका व्यक्तित्व ही उसे महानता की श्रेणी तक ले जाता है। इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनके चेहरे आकर्षित करने वाले न थे, हाव-भाव किसी कमसिन अदाकारा से न मिलते थे, लेकिन उनकी शख्सियत पर दुनिया झुक जाती थी। प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी देखने में कुरूप थे। एक बार बादशाह शेरशाह को उनके कुबड़े जिस्म को देखकर हँसी आ गई। यह देखकर जायसी ने कहा – **मो पर हँससि कि कोहरहि** – तुम्हें मुझ पर हँसी आई या मुझे बनानेवाले पर? कहते हैं कि जायसी की यह बात सुनकर शहंशाह बड़ा शर्मिन्दा हुआ और उन्होंने जायसी से माफी माँगी। सुकरात देखने में बदरंग थे। मार्टिन लूथर किंग ने अमरीका में अश्वेतों को मानवाधिकार दिलाया। नेल्सन मण्डेला भी अश्वेत हैं। कृष्ण-भक्त कवि सूर जन्मान्ध थे। अशोक इतने बदसूरत थे कि कोई भी राजकुमारी स्वेच्छा से उनसे विवाह करने को तैयार न होती थी; परन्तु ये सभी लोग अपने-अपने क्षेत्र के विशिष्ट व्यक्ति थे, जिनका नाम आते ही आज भी दुनिया श्रद्धा से अपना सिर झुका लेती है। कहा गया है – 'सुन्दर वह है जो सुन्दर दिखता है।' इसी बात को एक दोहे में यों कहा गया है –

मन मलिन तन सुन्दर वैसे ।
विष रस भरा कनक घट जैसे ।।

यह ठीक है कि शरीर की सुन्दरता को भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उसका एक जैविकीय पक्ष है और उसी से सृजन-गीत लिखे जाते हैं। सौन्दर्य और गुण में अन्तर यह है कि सौन्दर्य क्षणिक और नश्वर है। किन्तु गुण स्थायी है, यह जिन्दगी के बाद भी अपनी उपस्थिति बनाए रखता है। आज मॉडलिंग के पीछे दुनिया दीवानी है। देश-विदेश में सौन्दर्य-प्रतियोगिताएँ हो रही हैं। पश्चिम की बाजारवादी संस्कृति में आज हमारा युवावर्ग इस फैशन-परस्ती के पीछे दीवाना है। हालांकि हम यह नजरन्दाज कर देते हैं कि इन प्रतियोगिताओं में मेधा-परीक्षण भी होता है, सिर्फ दैहिक सौन्दर्य प्रतियोगिताओं के आधार नहीं बनते और यदि बनते भी हैं, तो कितने लोग विश्व-सुन्दरी या विश्व-पुरुष बनते हैं? पर सपने कितने पालते हैं! बिहारी ने एक दोहे में सौन्दर्य को क्षीणकाय कहा है। वे कहते हैं – जहाँ सौन्दर्य ही आकर्षण का केन्द्र है, वह सौन्दर्य मरा हुआ है। इतिहास में क्लियोपेट्रा के सौन्दर्य का जितना बखान किया गया, उतना किसी का नहीं, पर इसका कारण यह नहीं था कि वह सुन्दरी थी, बल्कि यह भी कि उसने अपने समय की राजनीति को जितनी निपुणता से प्रभावित किया था, उतना किसी और ने नहीं। दुनिया में जितनी भी सुन्दरियाँ हुईं, उन पर संयुक्त रूप से भी उतना नहीं लिखा गया, जितना कि लियोनार्दो द विंची की 'मोनालिसा' पर। उसकी एक शालीन मुस्कान सब उड़नपरियों पर भारी पड़ती है। पैसे की भूख और ग्लैमर-भरी शोहरत पर सुन्दरता का मानवीय पक्ष पिस जाता है। हमारे यहाँ जन्म से मृत्यु तक जिन सोलह संस्कारों की बात की जाती है, उसका निचोड़ है सुसंस्कृत और दीर्घजीवी बनना।

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह स्वभावत: दूसरों के आकर्षण का केन्द्र बनना चाहता है। स्त्रियाँ इसी कारण आभूषण पहनती हैं या शृंगार करती हैं। किन्तु सिर्फ शारीरिक सौन्दर्य सेमल के उस फूल की तरह है, जो देखने में लुभावना तो है, किन्तु चोंच मारने पर काग को निराशा ही हाथ लगती है। स्मरण रखिए कि व्यवहर में विनम्रता, वाणी में मधुरता, चलने-फिरने में नागरिकता जैसे सद्गुण ही व्यक्तित्व को आकर्षक बनाते हैं। काँटों को बीनकर फूल बिखेरनेवाला स्वभावत: सबके आकर्षण का केन्द्र बन जाता है। चाणक्य-नीति में कहा गया है कि मनुष्य का सौन्दर्य विद्या है और तपस्वियों का सौन्दर्य क्षमा है। किन्तु लोक-व्यवहार में हो यह रहा है कि लोग बाह्य सौन्दर्य के पीछे दीवाने हैं। हम अपने व्यक्तित्व से अधिक रूप, आकृति और वेश-विन्यास की चिन्ता करने लगे हैं। संस्कृत के एक नीति-श्लोक का अर्थ है कि रूप-यौवन से सम्पन्न बड़े कुल में जन्मा व्यक्ति भी विद्याहीन होने पर गन्धरहित टेसू के फूल के समान शोभा नहीं देता। देश-दुनिया के बड़े-बड़े विद्वान्, मनीषी, सूफी, सन्त, भक्त, कवि अपनी विद्वत्ता के कारण ही कालजयी हो जाते हैं। उनको हम लोगों ने देखा नहीं, फिर भी उनकी महानता के कारण हम उनका स्मरण करते हैं।

('योजना' से साभार)

ज्ञान के लिये परिश्रम

राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

मानव-मस्तिष्क एक अनोखा उपहार है। आप इसमें तभी प्रवेश कर सकते हैं, जब आप में जिज्ञासा और चिन्तन की प्रवृत्ति हो। मैं आप सभी को सलाह देता हूँ, कि चिन्तन को पूंजीगत परिसम्पत्ति बनायें, चाहे जीवन में जितने भी उतार-चढ़ाव क्यों न आयें। चिन्तन-हीनता व्यक्ति, संस्थान और देश के लिए विनाशकारी है। चिन्तन क्रिया को जन्म देता है, बिना किसी क्रिया के ज्ञान व्यर्थ और अप्रासंगिक है। क्रिया-युक्त ज्ञान ही समृद्धि लाता है।

मैं चाहूँगा कि एक विद्यार्थी के रूप में आपके पास ऐसा मस्तिष्क हो, जो मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू की खोजबीन करे। हम अकेले नहीं हैं। समस्त ब्रह्माण्ड हमारे लिए मित्रवत् है और उन लोगों को वह अपना सर्वोत्तम देने की चेष्टा करता है, जो लोग स्वप्न देखते हैं तथा क्रियाशील हैं। इसी प्रकार वैज्ञानिक सुब्रह्मण्यम् चन्द्रशेखर ने ब्लैक-होल की खोज की। आज हम चन्द्रशेखर की खोज का उपयोग करके यह गणना कर सकते हैं कि सूरज कब तक चमकेगा। जिस तरह सर सी. वी. रमन ने सागर की ओर देखा और स्वयं से प्रश्न किया कि सागर का रंग नीला क्यों है? उन्होंने पाया कि सागर का नीला रंग प्रकाश के आण्विक प्रकीर्णन के कारण है, न कि पानी में आकाश के प्रतिबिम्ब होने के कारण, जैसा कि अधिकांश लोग कल्पना करते हैं। इससे 'रमन-प्रभाव' का जन्म हुआ। वैसे ही जब अल्बर्ट आइंस्टाइन ब्रह्माण्ड की जटिलता से अभिभूत हुए, तब इस जिज्ञासा से आकुल हो गये कि ब्रह्माण्ड का जन्म कैसे हुआ? इसने उन्होंने प्रसिद्ध समीकरण $E = mc^2$ को जन्म दिया। जब तक यह समीकरण आइंस्टाइन जैसी महान् आत्माओं के हाथ में रहा, तब तक नाभिकीय पदार्थों से बिजली प्राप्त हुई, लेकिन जब यही समीकरण अतिवादी राजनैतिक विचारकों के हाथ में पड़ा, तब हिरोशिमा-नागासाकी का विध्वंस हुआ।

विज्ञान क्या है?

सिलसिलेवार प्रश्न पूछना और कठोर श्रम करके इन प्रश्नों के उत्तर खोजना ही विज्ञान है। ये उत्तर ही प्रकृति के नियमों अथवा प्रौद्योगिकीय प्रगति को जन्म देते हैं। अत: बच्चो, आप सभी को एक सुझाव दे रहा हूँ कि प्रश्न पूछने से कभी मत डरो। प्रश्न तब तक पूछते रहो, जब तक कि संतोषजनक उत्तर न मिल जाये। विश्व की गैर-रेखीय गति (नान-लिनीयर डायनैमिक्स) के बावजूद केवल प्रश्न पूछने वाले दिमाग ने ही विश्व को रहने-योग्य बनाया है। पिछले ढाई वर्षों से मैं राष्ट्रपति हूँ। जीवन ने मुझे तीन गुणों – ज्ञान, परिश्रम तथा अध्यवसाय के महत्व की शिक्षा दी है। बचपन में स्कूलों में लिखने-पढ़ने का समय ही किसी भी व्यक्ति के जीवन का सबसे अच्छा अंश होता है। ५ से १६ वर्ष की आयु ही सीखने का सबसे महत्त्वपूर्ण समय है। उस समय घर में स्नेह-प्रेम मिलता हैं, अच्छे पड़ोसी और मित्र भी मिलते हैं। लेकिन दिन का अधिकांश समय स्कूल से दिये गये गृहकार्य को पूरा करने, खाने, खेलने और सोने में बीत जाता है। अत: स्कूल में बिताया गया समय सीखने का सबसे अच्छा समय होता है। सबसे अच्छे वातावरण और 'आदर्श' पर आधारित समर्पित उद्देश्योन्मुख शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक है ताकि हम अच्छे नागरिक बन सकें। यहाँ मुझे एक महान् अध्यापक बेस्टोलोजी की कही हुई बात याद आ रही है, "मुझे सात वर्ष के लिए कोई बच्चा दे दो; उसके बाद बच्चा ईश्वर के हाथ जाये या शैतान के हाथ में, कोई भी उसे बदल नहीं सकता।" यदि बच्चे स्कूल परिसर में बिताये गये २५००० घण्टों के दौरान मूल्यों पर आधारित शिक्षा से वंचित रह जाता है, तो कोई भी सरकार अथवा समाज एक पारदर्शी तथा न्यायनिष्ठ समाज की स्थापना नहीं कर सकता। सत्रह वर्ष की आयु तक माता, पिता तथा अध्यापक बच्चे को एक प्रबुद्ध नागरिक बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मैं यह भी मानता हूँ कि सीखना एक सतत प्रक्रिया है और ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया जारी ही रहती है।

मनुष्य असफलताओं को पराजित करता है

मानव की उड़ान और कुछ नहीं, बल्कि मानव-मस्तिष्क की सृजनात्मकता मात्र है। उत्कृष्टता अर्जित करने के लिए वैज्ञानिकों को अन्तरिक्ष के अन्वेषण की दिशा में अनेक संघर्ष करने पड़े हैं। महान् और सुविख्यात वैज्ञानिक लार्ड केल्विन लंदन की रायल सोसाइटी के अध्यक्ष भी थे। उन्होंने १८९० में कहा था – "कोई भी वस्तु जो हवा से भारी हो, न तो उड़ सकती है और न ही उड़ायी जा सकती है।" लेकिन दो दशकों के भीतर राइट-बन्धुओं ने यह साबित कर दिया कि मनुष्य उड़ सकता है, भले ही वह बड़ा खतरनाक और कीमती काम हो। वेरनल वॉन ब्राऊन एक प्रसिद्ध राकेट डिजाइनकर्ता थे, जिन्होंने अंतरिक्ष-यात्रियों के साथ कैप्सूल को प्रक्षेपित करनेवाले और १९७५ में चन्द्रमा पर मनुष्य की चहलकदमी को वास्तविकता में बदलने वाले सैटर्न का निर्माण किया था। चन्द्र-अभियान के १९६१ ई. में सफलतापूर्वक पूरा होने पर उन्होंने कहा था – "यदि मुझे अधिकार मिल जाय, तो मैं असम्भव शब्द को शब्दकोश से निकाल दूँगा।" टोलेमैक प्राचीन काल में खगोलविद्या विभिन्न तारों और ग्रहों

शेष अगले पृष्ठ पर

रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल (म.प्र.) का इतिहास

भोपाल नगर भारत के मानचित्र में लगभग मध्य में स्थित है। यह नगर दक्षिण से उत्तर की ओर कन्याकुमारी और कश्मीर का यह लगभग मध्य बिन्दु पर है और वैसे ही पश्चिम से पूर्व की ओर द्वारका और पुरीधाम के बीचोबीच स्थित है। यह पूरा अंचल अत्यन्त हरा-भरा है और नगर में पाँच झीलें तथा सात पहाड़ियाँ हैं। झीलों तथा हरी-भरी पहाड़ियों से युक्त यह नगर बड़ा सुन्दर दीख पड़ता है। बुद्ध के उपदेशों से युक्त विश्वविख्यात साँची का स्तूप, जो सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित और इतिहासकारों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, यहाँ से मात्र ४५ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। प्रागैतिहासिक गुफा भीम-बेटका में की गई चित्रकारी यहाँ से मात्र ५३ कि.मी. दूर है। ईसा पूर्व १० वी. शताब्दी में राजा भोज की राजधानी 'भोजपुर' में निर्मित विशाल शिव-मन्दिर, जिसमें लगभग १० फीट ऊँचा विशाल शिवलिंग स्थापित है, भोपाल से मात्र १६ कि.मी. दूर है। वास्तव में भोपाल नाम, राजा भोजपाल से आया है, जिन्होंने यहाँ १० वीं शताब्दी (ईसापूर्व) में राज्य किया था। होशंगाबाद से होकर बहनेवाली पवित्र नर्मदा नदी यहाँ से लगभग ७० कि.मी. दूर है। उज्जैन-महाकालेश्वर और ओंकारेश्वर के सुप्रसिद्ध ज्येतिर्लिंग भोपाल से लगभग १५० कि.मी. दूर हैं। भोपाल शहर में अनेकों संग्रहालय हैं, जिसमें भारत-भवन (जिसमें भारतीय संस्कृति की प्रस्तुति है), इन्दिरा गाँधी मानव-संग्रहालय (जिसमें भारत के आदिवासियों का चित्रण है) और एक पुरातत्त्वव संग्रहालय (आरकोलोजिकल म्यूजियम) भी है। एशिया का सबसे बड़ा ताज-उल मसजिद और प्रदेश की विधान सभा भी यहीं है। इसी शहर में ही बिरला ने एक बड़ा सुन्दर लक्ष्मीनारायण मन्दिर बनवाया है। इस नगर से अपरिचित लोगों के लिये इसकी भव्यता तथा महत्त्व का खाका प्रस्तुत करने के लिये इतना ही पर्याप्त होगा।

१९५६ ई. में मध्य प्रदेश के राज्य का गठन होने के बाद भोपाल उसकी राजधानी बनी और उस समय नागपुर के रामकृष्ण मठ के कुछ दीक्षित भक्त स्थानान्तरित होकर यहाँ आये। वे लोग श्रीरामकृष्ण की दैनिक संध्या-आरती करते और प्रतिवर्ष श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथि भी मनाते। उसी समय यहाँ एक 'रामकृष्ण-आश्रम' स्थापित करने का प्रयास किया गया, परन्तु विभिन्न कारणों से वह रूपायित नहीं हो सका। इसके बाद १९६३ ई. में स्वामी विवेकानन्द की जन्म-शती के अवसर पर आयोजित कार्यक्रमों में भाग लेने के लिये रामकृष्ण संघ के अनेक वरीष्ठ संन्यासी और विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी आत्मानन्द जी महाराज भोपाल आये और विभिन्न सभाओं को सम्बोधित किया। उस समय एक बार पुनः भोपाल में आश्रम स्थापित करने की असफल चेष्टा हुई थी।

इसके बाद वर्षों बीत गये, लेकिन रामकृष्ण आश्रम की स्थापना की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी। रामकृष्ण संघ के वरीष्ठ संन्यासी स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज १९६८ ई. में भोपाल पधारे और पूरे एक सप्ताह उनकी व्याख्यान-माला चली। उन्होंने मध्यप्रदेश शासन के अनेक प्रमुख अधिकारियों को प्रेरित किया, जिनकी चेष्टा से रामकृष्ण आश्रम की वैधानिक रूप से स्थापना के लिये प्रयास किया गया। १९ अप्रैल, १९६८ को फर्म और सोसायटीज के रजिस्ट्रार ने पंजीकरण संख्या १०२९ के साथ इसे स्वीकृति दे दी। श्रीठाकुर की विशेष पूजा, प्रार्थना तथा कीर्तन-भजन के साथ इस अवसर को आनन्दोत्सव के रूप में मनाया गया। आश्रम ७५/२२, दक्षिण टी.टी. नगर, भोपाल में स्थापित हुआ और वहीं श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी और स्वामी विवेकानन्द के जन्मोत्सव मनाये गये।

रजिस्ट्रार के कार्यालय से मान्यता मिलते ही, ग्वालियर-आश्रम के संविधान के अनुसार ही इस आश्रम का संविधान बनाने हेतु भक्तों की एक सभा बुलाई गयी। इस अवसर पर श्री गोपीकृष्ण सेठ ने २२ से २४ अप्रैल (१९६८) तक भोपाल के पॉलिटेक्निक भवन में स्वामी आत्मानन्दजी के त्रिदिवसीय व्याख्यान-माला का आयोजन किया, जिसका उद्घाटन तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री गोविन्द नारायण सिंह ने किया।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

की गति की गणना करने में व्यापक स्तर पर प्रयुक्त होनेवाली प्रणाली रही है। उस समय माना जाता था कि पृथ्वी समतल है, इसका आकार गोल है और यह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है। यह सिद्ध करने में कितना संघर्ष करना पड़ा ! दो महान् खगोलशात्रियों, कोपरनिकस और गैलीलियो ने खगोल विज्ञान को नया आयाम दिया। आज हम कितनी सहजता से यह मान लेते हैं कि पृथ्वी एक ग्लोब है, जो सूर्य की चारों ओर एक कक्षा में चक्कर लगाती है ! आज जो भी प्रौद्योगिकीय प्रगति दिखाई देती है, वह पिछली कुछ शताब्दियों में हुई वैज्ञानिक खोजों का परिणाम है। मनुष्य कभी समस्याओं से हारा नहीं है। असफलताओं को वशीभूत करने के लिये वह निरन्तर प्रयासरत है। ❑❑❑

अब बिना समय नष्ट किये, रामकृष्ण आश्रम हेतु जमीन आबंटन के लिये शीघ्र ही राज्य सरकार को एक आवेदन पत्र दिया गया। शीघ्र ही रवीन्द्र भवन के पास १०० फिट लम्बा और १०० फिट चौड़ा एक भूखण्ड आबंटित हुआ, परन्तु दुर्भाग्यवश वह आबंटन खारिज हो गया और उसके बाद डेढ़ एकड़ का एक नया भूखण्ड (जिसमें वर्तमान आश्रम स्थित है) आबंटित हुआ। धीरे-धीरे एक भवन का निर्माण हुआ, जिसमें मन्दिर, कुछ आवासीय कक्ष तथा भोजनालय बनाये गये। तभी से आश्रम में प्रतिवर्ष निरन्तर श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द की तिथिपूजा तथा अन्य उत्सवों का आयोजन होता रहा है। प्रदेश के अनेक उच्च अधिकारियों, भक्तों तथा मित्रों की सहायता से ही भोपाल में स्थायी रूप से रामकृष्ण आश्रम की स्थापना हो सकी है।

रामकृष्ण मठ और मिशन के भूतपूर्व परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज ने भोपाल के आश्रम में दो बार पदार्पण करके अनेक भक्तों को दीक्षा प्रदान की थी। महाराज ने आश्रम-परिसर में एक स्कूल-भवन का शिलान्यास भी किया था, जिसका अब पुस्तक-विक्रय-केन्द्र और वाचनालय के रूप में उपयोग किया जा रहा है।

आश्रम में नियमित रूप से दैनन्दिन पूजा सम्पन्न करने हेतु कोई स्थायी संन्यासी नहीं थे। स्वामी प्राणगोपाल जी ने कुछ समय आश्रम की व्यवस्था देखी। बाद में इन्दौर के स्वामी स्वरूपानन्द जी ने यहाँ आकर एक वर्ष निवास किया। उनके निवास के दौरान विविध उत्सवों का आयोजन हुआ। १९८२ ई. में स्वामी आत्मानन्द जी के निर्देश पर एक युवा संन्यासी - स्वामी आत्मभोलानन्द आश्रम के गतिविधियों का संचालन करने के लिये आश्रम में पधारे। बाद में उन्होंने इस आश्रम के ही एक कार्यक्रम के रूप में 'विवेकानन्द विद्यापीठ' नाम से एक विद्यालय चलाने का निर्णय लिया। इसके लिये भारत हैवी इलेक्ट्रानिक्स लि. (BHEL) द्वारा भोपाल के पिपलानी क्षेत्र में लीज पर भूखण्ड प्राप्त हुआ। विद्यालय के कार्य में उनके व्यस्त हो जाने के कारण आश्रम की नित्य पूजा तथा अन्य गतिविधियों को चलाने हेतु, १९९० ई. में स्वामी गौतमानन्द जी की सलाह पर ब्रह्मचारी गजानन इस आश्रम में आये और संन्यास लेकर स्वामी गवेन्द्रानन्द हुए। वे आश्रम की नित्य पूजा, संध्या-आरती तथा उत्सव-अनुष्ठानों का नियमित रूप से संचालन करने लगे। १९९१ ई. से उन्होंने जगद्धात्री पूजा की परम्परा आरम्भ की, जो अब तक चली आ रही है। रामकृष्ण मठ-मिशन के वर्तमान परमाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी महाराज १९९४ तथा २००० ई. में – दो बार भोपाल आश्रम में पदार्पण किया है और अनेक भक्तों को दीक्षा -दान कर चुके हैं। श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्दजी महाराज का भी संघ के उपाध्यक्ष के रूप में एक बार भोपाल आश्रम में शुभागमन तथा दीक्षादान-कार्यक्रम हो चुका है।

आश्रम के भक्तों की हार्दिक इच्छा थी कि भोपाल का यह आश्रम बेलूड़ मठ में स्थित रामकृष्ण मठ/मिशन के मुख्यालय द्वारा अपनी व्यवस्था में अधिगृहीत कर लिया जाय। इसके लिये १९९५ से २००५ ई. तक निरन्तर प्रयास किया गया। २००५ ई. की फरवरी में रामकृष्ण संघ के मुख्यालय, बेलूड़ मठ ने अपने कुछ न्यासियों – स्वामी वागीशानन्दजी, स्वामी तत्त्वबोधानन्दजी तथा स्वामी सुहितानन्दजी को सर्वेक्षण हेतु भोपाल भेजा। उन लोगों ने यहाँ के रामकृष्ण आश्रम तथा विवेकानन्द विद्यापीठ का निरीक्षण तथा स्थानीय भक्तों तथा आश्रम की प्रबन्ध-समिति से चर्चा करने के बाद बेलूड़ मठ स्थित संघ के मुख्यालय को सिफारिश की कि इस केन्द्र का रामकृष्ण संघ में विलय कर लिया जाय। १९ अक्तूबर २००५ ई. को रामकृष्ण मिशन की संचालन समिति की बैठक हुई, जिसमें रामकृष्ण आश्रम, भोपाल को अपने केन्द्र के रूप में अपनी एक शाखा के रूप में अधिगृहीत करने का निर्णय लिया गया। रामकृष्ण मिशन ने स्वामी भावरूपानन्द जी को इस आश्रम का सचिव नियुक्त किया, जो २००६ ई. की फरवरी के अन्त में कार्यभार ग्रहण करने भोपाल आ पहुँचे। ६ अप्रैल, २००६ को पुनीत रामनवमी के दिन उन्होंने आश्रम के सचिव का उत्तरदायित्व ग्रहण किया। रामकृष्ण आश्रम का रामकृष्ण मिशन में विलय करने हेतु फर्म और सोसाइटी के रजिस्ट्रार को एक आवेदन पत्र दिया गया और सौभाग्य से ८ जून २००६ को विलय का आदेश जारी हो गया।

औपचारिक रूप से इस विलय-उत्सव का कार्यक्रम ६ तथा ७ अगस्त २००६ को रवीन्द्र भवन में अयोजित किया गया, जिसमें रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी और संघ के अनेक वरीष्ठ संन्यासियों – स्वामी सत्यरूपानन्द, स्वामी निखिलात्मानन्द, स्वामी निखिलेश्वरानन्द आदि ने सभा को सम्बोधित किया। दोनों दिन सांस्कृतिक कार्यक्रम हुये। ६ अगस्त को मुम्बई के श्री शेखर सेन ने स्वामी विवेकानन्दजी के जीवन पर 'एकपात्री नाटक' प्रस्तुत किया और ७ अगस्त को डॉ. असीत कुमार बैनर्जी ने सुमधुर सितार-वादन किया। इस प्रकार श्रीरामकृष्ण आश्रम, भोपाल का सुचारु रूप से रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ में विलय सम्पन्न हुआ और इसका नया नाम हुआ – 'रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल'। ❑❑❑